(72)

Purnea University, Purnea

Format for submission of Six-Monthly Progress Report
(To be submitted by the Ph.D. Research Scholar)

1. **Name of the Candidate**: RAVI KUMAR RAM

2. Name(s) of the Supervisor and Co-Supervisor(s): Dr.ANITA MAHTO

3. **Topic of Research**: श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आत्मा, परमात्मा और कर्म-सिद्धान्त की अवधारणा एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी प्रासंगिकता।

4. Six-Monthly Progress Report for the period, From: March 20 To :September 2020

5. Progress Report to be submitted in detail on separate sheet (Please add separate sheet, if necessary) : separate sheet attached

6. Quantum of Ph.D. work completed:
(Please tick the appropriate box)

(a) 0 ± 10%	✓	(b) 11 ± 20%		(c) 21-30%	
(d) 31-50%		(e) 51-75%		(f) 76-100%	

रवि कुमार राम
(Signature & Name of the Ph.D. Research Scholar)

7. Remarks of the Supervisor:
- The work of research scholar is satisfactory

The Scholar has done research work 60% successfully and completed in due time.

Name & Signature of Supervisor Anita Mahto

Recommendation of the Departmental Research Committee (DRC)

Recommended.

Signature of the Chairperson
Departmental Research Committee

1 प्रथम अध्याय–प्रस्तावना (श्रीमद्भगवद्गीता : एक परिचय)

दर्शनशास्त्र का उद्देश्य जीवन तथा जगत के अंतिम प्रश्नों का हल करना है। इस समय भारत वर्ष में भारतीय जीवन का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न हो रहा है और हमारा राष्ट्रीय उद्देश्य भी जन कल्याण और सर्वोदय का है, इस परिस्थिति में श्रीमद्भगवद्गीता एक मार्ग–दर्शक की भूमिका में हमें सहायता देने को तैयार है।

श्रीमद्भगवद्गीता स्वयं परमात्मा का उपदेश है। इसमें मनुष्य के कर्म की कहानी है। कर्म सभी को करना है इस कर्म की सही व्याख्या इस महान ग्रन्थ में है। कर्म (निष्काम) परमात्मा ही सीखा सकते है, क्योंकि परमात्मा ही निष्काम हैं, जिसे किसी फल की इच्छा नहीं है। जैसा कि मैं समझता हूँ, श्रीमद्भगवद्गीता का एक उद्देश्य यह भी है कि मनुष्य (अर्जुन) को शरीर और आत्मा (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ) का अंतर बताकर आत्मा में स्थित करना है तथा उसे परमात्मा का परिचय देकर फिर से संदेह–रहित, नष्टोमोहा एवं स्मृतिर्लब्धा बनाना है। जैसा श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है –

"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।" (13/2)

"नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।" (18/73)

उपर्युक्त श्लोको के प्रथम श्लोक में शरीर और आत्मा (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ) का ज्ञान दिया गया है। इसमें भगवान ने स्पष्ट कहा है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ (शरीर और आत्मा) का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। द्वितीय श्लोक में गीता ज्ञान सुनने के बाद अर्जुन ने यही कहा कि अब मेरा मोह नष्ट हो गया है मेरे संदेह और संशय मिट गये हैं अब मैं आत्मा के स्वरूप मे स्थित हो गया हूँ और ईश्वरीय स्मृति में टिक (स्थिर) गया हूँ। श्रीमद्भगवद्गीता सर्वशास्त्र शिरोमणि है, जिसे शताब्दियों से लोग नित्य प्रति श्रद्धा भाव से पढ़ते, पढ़ाते और सुनते तथा सुनाते आए है। गाँधी जी ने भी कहा है– "श्रीमद्भगवद्गीता सम्पूर्ण वैदिक शिक्षाओ के तत्वों का सार है इसका ज्ञान सारी मानवीय महत्वाकांक्षाओं को सिद्ध करनेवाला है। मुझे श्रीमद्भगवद्गीता में एक ऐसी सांत्वना मिलती है जो मुझे सर्मन ऑन द माउण्ट (बाईबल का एक प्रसंग) तक में नहीं मिलती है। जब मै निराश होता हूँ तब गीता की

शरण लेता हूँ और इसमें मुझे कोई न कोई श्लोक ऐसा मिल ही जाता है जिससे मैं विपत्तियों में भी मुस्कुराने लगता हूँ। (मोहन दास कर्मचंद गांधी, यंग इंडिया–1925 ई०, पृ० सं०–1078–79)

श्रीमद्भगवद्गीता की विषय–वस्तु का विश्लेषण

गीता आध्यात्मिक ज्ञान की अमूल्य निधि है। उपनिषदों का सार स्वरूप है। उपनिषदों का सार होते हुए गीता की अपनी विशिष्टता है। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जिसके समस्त साधनों की पूर्ति एवं प्रयोग समाज में ही होता है। इसलिए समाज का अध्यात्म से घनिष्ट संबंध है। गीता का अध्यात्म, मानव जीवन के सभी विधाओं को संस्पर्श करता हुआ व्यक्त होता है।

गीता साहित्य की अवधारणा एक संक्रमणकालीन परिस्थिति का प्रतिफल है, जहाँ मानवीय मूल्यों के नैतिक प्रतिमान ध्वस्त हो रहे थे; परस्पर अविश्वास की भावनाएँ, सामाजिक सुरक्षा एवं एकता की प्रवृत्ति को विघटित कर रही थी। इतना ही नहीं, इस अराजक स्थिति में प्रबुद्ध वर्ग भी चाहे–अनचाहे अधर्म के पक्ष में खड़ा था अर्थात् कुछ लोग आपराधिक कार्यों को इसलिए करते हैं कि उनमें उनकी अभिरुचि है, उनकी बुद्धि में सात्त्विकता एवं निर्मलता का अभाव है। दूसरे वे लोग हैं जो येन–केन प्रतिक्रियात्मक कारणों से अनुचित कार्यों को करते हैं अथवा समर्थन करते हैं। दोनों का उद्देश्य उन्मुख था। दोनों ही प्रवृत्तियाँ सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अहितकारी थी। आज हमारे जीवन में यही स्थिति मौजूद है। समाज के कुछ लोग अतिशय भोग विलासिता के वरण से मानवीय एवं नैसर्गिक जीवन से दूर हो गये हैं तो दूसरी तरफ अभावग्रस्त बाहुल्य आबादी जीने के लिए अनुचित तौर–तरीकों का वरण कर रही है। ऐसी स्थिति में समाज का प्रबुद्ध वर्ग भी तथाकथित कारणों से सामाजिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना एवं संवर्धन में उदासीन दिखाई देते हैं।

ऐसी व्यवस्था में अर्जुन की मोहग्रस्त वैराग्यवादी प्रवृत्ति के निराकरण का प्रयास विश्व स्रष्टा श्रीकृष्ण द्वारा किया गया। नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की स्थापना हेतु जो उपदेश अर्जुन को दिया गया उसे 'भगवान् का गीत' अर्थात् 'भगवद्गीता' के रूप में जाना जाता है। फिर भी कुछ तथाकथित, पश्चात्य विचारकों ने वैविध्यपूर्ण भारतीय संस्कृति को

एक कोटि में रखकर निराशावादी भाग्यवादी एवं असभ्य आदि कहकर आलोचना की है। श्रीअरविन्द ने अपनी पुस्तक 'The foundation of Indian culture' में, जिसका हिन्दी अनुवाद भारतीय संस्कृति के आधार शीर्षक से प्रकाशित हुआ है, इसी प्रकार के समीक्षक मिस्टर विलियम आर्थर का उल्लेख किया है, जो वस्तुत नाट्य समालोचक थें, किंतु जिन्होंने भारत को बर्बर, असंस्कृत, असभ्य सिद्ध करने में बहुत श्रम किया था। श्रीअरविन्द अपने ग्रंथ के प्रारम्भ में जो कुछ मिस्टर आर्थर के बारे में लिखते है वह इस तथ्य का परिचायक है कि पाश्चात्य विचारकों ने भारतीय संस्कृति के विषय में कोई निर्णय देते समय कभी–कभी कितना सीमित मानसिकता का परिचय दिया है– "उस प्रसिद्ध नाट्य समालोचक आर्थर ने अपने सुरक्षित एवं स्वाभाविक क्षेत्र को छोड़कर ऐसे क्षेत्रों में टांग अड़ाई, जिसके संबंध में उसे कुछ कहने का अधिकार नहीं है, एक प्रकार का अभिमानपूर्ण महान अज्ञान है। उसने भारत के सम्पूर्ण जीवन एवं संस्कृति पर आक्रमण कर दिया और यहां तक कि उसकी महान से महान प्राप्तियों दर्शन, धर्म, काव्य चित्रकला, मूर्तिकला, उपनिषद्, महाभारत एवं रामायण सबको एक कोटि में रखकर सबके बारे में कह डाला कि ये अवर्णनीय बर्बरता का एक घृणास्पद स्तूप हैं।[1]

गीता का विचारपूर्वक अध्ययन करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह हमारे भारतीय साहित्य परम्परा की स्फटिक–मणि है। संभवतः यह ग्रन्थ मानवीय चिंतन के इतिहास में अद्वितीय सृजन है जिसमें प्रायः सभी विचारधाराओं एवं मानवीय मूल्यों से संबंधित नैतिक, राजनीतिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक आदि सभी पहलुओं का समावेश किया गया है। भगवद्गीता यद्यपि महाभारत का अंश होने के नाते अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखती है परन्तु विशेषतः गीता की रचना का महत्त्व उन शाश्वत मूल्यों में है, जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन को मंगलमय बनाकर, मुक्ति हेतु मार्ग प्रशस्त कर सकता है। इस प्रकार गीता अपने मूल–रूप में राजनैतिक अथवा ऐतिहासिक घटना मात्र का वैचारिक दृष्टि न होकर नैतिक एवं तात्त्विक मूल्यों का सुबोध एवं सरल विचारणा है। इस तथ्य को महात्मा गांधी 'यंग इण्डिया' में उद्धृत करते हुए कहते हैं– मेरे विचार में गीता ऐतिहासिक एवं व्यवहारिक विचारधारा की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि के रूप में दिखाई देती है। यह आसुरी और दैवीय शक्ति के बीच उत्पन्न द्वन्द्व की प्रवृति को निर्देशत करती है।[2]

विभिन्न भाष्यकारों द्वारा प्रस्थानत्रयी ब्रह्मसूत्र, उपनिषद, गीता पर अपनी–अपनी टीकाएं लिखी गयी। यद्यपि सभी भाष्यकार उच्चकोटि के विचारक थे फिर भी उनके द्वारा गीता के तात्पर्य–निर्णय पर दिया गया अभिमत एक समान नहीं है। शंकराचार्य ने ज्ञानमार्गी दृष्टि के आधार पर, रामानुज ने भक्तिमार्ग और बालगंगाधर तिलक, श्रीअरविन्द, एनीबेसेण्ट आदि ने कर्मयोग के आधार पर अपने–अपने तात्पर्य विषय को स्पष्ट किया। इन विभिन्न अभिमतों को देखकर प्रबुद्ध वर्ग के मन में यह भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि क्या गीता में निहित विचार निश्चित और स्पष्ट नहीं है? मेरे विचार में ऐसा कहना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि गीता में विभिन्न विषयों पर संदर्भानुसार श्रीकृष्ण द्वारा किये गये कथन अर्जुन के भ्रम का निराकरण करने में सक्षम हुए तो फिर हमें ऐसी उलझन नहीं होनी चाहिए। तिलक के शब्दों में–''गीता कोई इन्द्रजाल नहीं है कि जिससे मनमाना अर्थ निकाल लिया जायें। उपर्युक्त सम्प्रदाय के जन्म के पहले ही गीता बन चुकी थी और भगवान ने अर्जुन को गीता का उपेदश इसलिए दिया था कि उसका भ्रम दूर हो, इसलिए नहीं कि उसका भ्रम बढ़ जाय। गीता में एक ही विशेष और निश्चित अर्थ का उपदेश किया गया है

जैसा कि गीता में कहा गया है–

''सन्न्यासं कर्मणा कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्तिम्।।'' (5/1)

''सन्न्यासः कर्मयोगश्च निः श्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।'' (5/2)

अर्जुन पर इस उपदेश का अपेक्षित परिणाम भी हुआ। इतना सब कुछ होने पर तात्पर्यार्थ के विषय में इतनी गड़बड़ी क्यों हो रही है? यह प्रश्न कठिन है सही, परन्तु इसका उत्तर इतना कठिन नहीं है जितना मालूम पड़ता है। उदाहरणार्थ– एक मीठे और सुरस पकवान को देखकर अपनी–अपनी रुचियों के अनुसार किसी ने उसे गेहूँ, किसी ने घी और किसी ने शक्कर का बना हुआ बतलाया तो हम उसमें किसको झूठ समझे। अर्थात् अपने–अपने मतानुसार सभी ठीक हैं परन्तु उतना से ही इस प्रश्न का निर्णय नहीं हो जाता है''।[3]

इसी प्रकार गीता में एक होने पर भी वह भिन्न–भिन्न सम्प्रदाय वालों को भिन्न–भिन्न स्वरूपों में दिखने लगे। आप किसी भी विचारक को ले, उसे अपने अभिमत को

स्पष्ट करने के लिए प्राणभूत ग्रंथों का ही अनुसरण करना पड़ता है। प्राय यह साम्प्रदायिक वैषम्यता जीव, ईश्वर और जगत् के संबंधों के विषय में ही प्रखर होती है जबकि अन्य टीका भावार्थ वस्तुत सामान्य ही दिखाई देते है।

गीता की आवश्यकता एवं उसके उपसंहार से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका उपदेश श्री कृष्ण द्वारा व्यवहारिक समस्याओं के निराकरण हेतु एक प्रकार से मूल स्रोत है, जिसको आत्मसात् किए बिना व्यावहारिक दुःखों का निराकरण सम्भव नहीं है। संदर्भानुसार तात्त्विक विषयों आत्मा, ईश्वर, जगत् आदि का विशेष संदर्भों में निरूपण किया गया है। जो मानवीय जीवन के भौतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की संगति की ओर निर्देशित करता है। मानवीय जीवन के लिए मूल्य सदैव आदर्श रहे हैं जहाँ भौतिक मूल्यों का निर्धारण जैविक आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित होता है, वहीं आध्यात्मिक एवं सामाजिक मूल्य का निर्धारण मनुष्य के जीवन के आत्मिक पक्ष एवं लोक–कल्याण के आधार पर निर्मित होते हैं। इस प्रकार गीता व्यावहारिक शास्त्र होते हुए भी आध्यात्मिक चिंतन से ओत–प्रोत है।

गीता के उपदेश की आवश्यकता इन अर्थों में कदापि नहीं है, कि कर्म निवृत्ति कर कैसे संन्यासी बना जाय या पंतजलि योग के अनुसरण द्वारा कैसे असंप्रज्ञात संमाधि में पंहुचा जाय। वहाँ तो समस्या युद्ध करने की थी। धर्म, अधर्म के द्वन्द्व की थी कि कैसे आसुरी प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण नाश कर दैवीय राज्य की स्थापना की जाय। इस क्रम में श्रीकृष्ण ने कई जगहों पर अनेक कारण–युक्तियों का उल्लेख करते हुए, युद्ध करने के लिए प्रेरित किया है यथा–इसलिए हे अर्जुन! तू युद्ध कर।[4]

"अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।" (2/18)

इसलिए हे अर्जुन! युद्ध का निश्चयकर उठ[5] इसलिए तू मोह छोड़कर कर्त्तव्य कर्म कर[6] इसलिए तू कर्म ही कर[7] इसलिए मेरा स्मरण कर और लड़[8] करने–कराने वाला सब कुछ मैं ही हूँ, तू केवल निमित्त है, इसलिए युद्ध करके शत्रुओं को जीत[9] और इस प्रकार के उद्धत अनेक वचनों द्वारा अर्जुन का संदेह और मोह नष्ट हुआ। और वह मूल्यों की स्थापना के लिए ईश्वरीय आस्था के साथ पुनः युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है, इस प्रकार गीता वह आचारशास्त्र या व्यवहार शास्त्र है जो अध्यात्म विद्या पर आधारित है। काशी के सुप्रसिद्ध अद्वैती परमहंस श्री कृष्णानन्द स्वामी का भगवद्गीता पर लिखा हुआ

गीतार्थ–परामर्श नामक संस्कृत में एक निबंध है जिसमें लिखा गया है कि–गीता वह नीतिशास्त्र अथवा कर्त्तव्य शास्त्र है जो कि ब्रह्मविद्या से सिद्ध होता है।[10]

सन्दर्भ सूची :

---

1 श्रीअरविन्द घोष, भारतीय संस्कृति के आधार : अदिति कार्यालय, अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, प्रथम अध्याय, पृ0 5

2 In my opinion the Bhagwat geeta is purly religious not historical treatise, it deals with the war that is eternally waging between the forces of evil and good, Ohrmuzol and Ahirman in the human breast-Young India, Dec. 9th 1921

3 गी0र0, पृ0 20

4 तस्माद्युध्यस्व भारत'– गी0, 2/18

5 तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय' – वहीं, 2/37

6 तस्मादसक्तः सततं कार्य कर्म समाचार। – वही, 3/19

7 करु कर्मैव तस्मात्त्वं। – वही, 4/15

8 मामनुस्मर युध्य च'। वही 8/7

9 वही, 11/33

10 गीतार्थ–परामर्श नामक निबन्ध जिसका प्रकाशन उनके अन्य तीन निबन्धों के साथ राजकोट में किया गया–लेखक श्री परमहंस श्री कृष्णानन्द स्वामी।

(65)

PROGRESS REPORT OF Ph.D.Work

1. Name of Research Scholar :- Ravi Kumar Ram
2. Registration No. :- PHDPU20PHI03
3. Title of the Ph.D.thesis :- "श्रीमदभगवदगीता के अनुसार आत्मा, परमात्मा और कर्म–सिद्धान्त की अवधारणा एवं वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी प्रासंगिकता।"

4. Progress Report :- After completion of Research Methodology classes.

- After completion of the course work, appeared in the exam.
- After passing out the exam, Joined library for review of study material.
- Atteneded libraries and studying various available study material, I discuss the study material review part of my research work.
- Have discussion with my supervisor and with her guidance, prepared a questionnaire for colletion of study material .

रवि कुमार राम

Signature of the Ph.D. Research Scholar

Ravi Kumar Ram

(64)

Purnea University, Purnea

Format for submission of Six-Monthly Progress Report
(To be submitted by the Ph.D. Research Scholar)

1. **Name of the Candidate:** RAVI KUMAR RAM

2. Name(s) of the Supervisor and Co-Supervisor(s): Dr.ANITA MAHTO

3. **Topic of Research:** श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आत्मा, परमात्मा और कर्म–सिद्धान्त की अवधारणा एवं वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी प्रासंगिकता।

4. Six-Monthly Progress Report for the period, From:. September 2020 To :March 2021

5. Progress Report to be submitted in detail on separate sheet (Please add separate sheet, if necessary) : separate sheet attached

6. Quantum of Ph.D. work completed:
(Please tick the appropriate box)

(a) 0 ± 10%	☐	(b) 11 ± 20%	☑	(c) 21-30%	☐
(d) 31-50%	☐	(e) 51-75%	☐	(f) 76-100%	☐

रवि कुमार राम
(Signature & Name of the Ph.D. Research Scholar)

7. Remarks of the Supervisor:
The work of research scholar is satisfactory
The Scholar has completed 20% his research work successfully.

Name & Signature of Supervisor
Anita Mahto

Recommendation of the Departmental Research Committee (DRC)
Recommended

Signature of the Chairperson
Departmental Research Committee

(63)

2. द्वितीय अध्याय– श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मा विचार

श्रीमद्भगवद्गीता में शरीर और आत्मा का भेद बताया गया है। शरीर को क्षेत्र और आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहा गया है आत्मा को केवल ज्ञान चक्षु (आन्तरिक दृष्टि) के द्वारा ही देखा जा सकता है। आत्मा प्रकृति से भिन्न दिव्य, अव्यक्त, चेतन अति सूक्ष्म द्रष्टा है। इस आत्मा का न कभी जन्म होता है और न ही कभी इसकी मृत्यु होती है। अतः जिस शरीर में आत्मा रहती है वह नाशवान है। परन्तु आत्मा अनादि और अविनाशी है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में कहा गया है–

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणों न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।" (2/20)

अर्थात् आत्मा एक चेतन सत्ता है। यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर से होने वाला ही है क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता है।

गीता में परमात्मा को ही जगत् का मूल कारण एवं परमतत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। वही पुरुषोत्तम स्वरूप परमात्मा ही आत्मा एवं जीवात्मा के रूप में भी जाना जाता है। गीता के दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को आत्मा की अविनाशिता बताते हुए कहते हैं, आत्मा नित्य है इसलिए शोक करना अयुक्त है। जिसमें यह संसार व्याप्त है, वही अविनाशी और अव्यय है। उसका कोई नाश नहीं कर सकता। देह अनित्य है, परन्तु देहाश्रयी आत्मा नित्य है, अविनाशी है, अप्रमेय है।[1] इस प्रकार गीता में आत्मा को अज, नित्य, सनातन, अविनाशी, अचल, शाश्वत, अविकार, सर्वगत अप्रेमय, अव्यक्त तथा अचिन्त्य कहा गया है।

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः।।" (2/23)
"अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।" (2/24)

उपनिषद् का कथन है, आत्मा वह है जो पाप से मुक्त है, वृद्धावस्था से रहित है, मृत्यु एवं शोक से रहित है, भूख और प्यास से रहित है। जो किसी वस्तु की इच्छा नहीं करती यद्यपि उसे इच्छा करनी चाहिए, जो किसी वस्तु की कल्पना नहीं करता है यद्यपि

उसे कल्पना करनी चाहिए, यह वह सत्ता है।"[2] इस प्रकार उपनिषद् एवं गीता दोनों में समान रूप से आत्मा के स्वरूप को दिखाया गया है।

आत्मा जन्म–रहित, नित्य एवं अविनाशी सत्ता है : गीता के अनुसार यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता।"[3]

गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जो यह जानता है कि यह आत्मा अविनाश्य और शाश्वत है, यह अजन्मा और परिवर्तनशील है; इस प्रकार का मनुष्य भला किसी को कैसे मार सकता है या किसी को मरवा सकता है। हे पार्थ! इस आत्मा का कभी नाश हो ही नहीं सकता। इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, इसका कभी जन्म नहीं होता और इसमें कभी किसी प्रकार की कमी नहीं आती। ऐसा जो अनुभव कर लेता है वह पुरुष किसी को कैसे मार सकता है अर्थात् उसमें ऐसी प्रवृत्ति आ ही नहीं सकती।[4] शाश्वत आत्मा एक स्थान से दूसरे स्थान तक आती जाती है। वह हर बार जन्म लेती है और इस प्रकृति की सामग्री में से अपने अतीत के विकास और भविष्य की आवश्यकताओं के अनुसार मन, जीवन और शरीर को अपने आस–पास समेट लेती है। आत्मिक अस्तित्त्व विज्ञान है जो शरीर (अन्न), जीवन (प्राण) और मन (मनस) के विविध रूपों को संभाले रहता है। जब भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है तब भी आत्मा के वाहन के रूप में प्राण और मन के कोश बचे रहते हैं। पुनर्जन्म प्रकृति का नियम है। जीवन के विविध रूपों के मध्य एक सोद्देश्य सम्बन्ध है। जैसे पुराने शरीर के त्यागने को मरना कहा कहा जाता है तथा नये शरीर को धारण करने को जन्मना माना जाता है। जब वह प्रकृति के साथ सम्बन्ध रखता है तब वह देही पुराने शरीर को छोड़कर कर्मों के अनुसार या अंतकालीन चिन्तन के अनुसार नये–नये शरीरों को प्राप्त होता रहता है। कर्मों की दृष्टि से तो शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिए जन्म–मरण होता है। जन्म–मरण से छुटकारा पाने के लिए अपने स्वार्थ को त्याग करके दूसरे के हित के लिए कर्म करने अर्थात् लोक–संग्रह के लिए कर्म करने से जन्म–मरण मिट जाएगा।[5]

गीता कहती है, "आत्मा अच्छेद्य है, यह अदाह्य अक्लेद्य और निःसन्देह अशोष्य है।"[6] इसलिए आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल इसे गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती।[7] इस प्रकार गीता आत्मा को अव्यक्त, अचिन्त्य

एवं विकार–रहित कहती है।[8] अर्थात् वह मन तथा इन्द्रियों से अतीत एवं निर्विकार है। गीता के अनुसार, "आत्मा अनादि और निर्गुण होने के कारण कार्य नहीं करती, न इसमें कोई दोष लगता है यद्यपि कि यह शरीर में अवस्थित है।[9] यह केवल द्रष्टा या साक्षी मात्र है।

श्रुतियों का मत : श्रुति भी आत्मा को नित्य, अविनाशी एवं जन्मरहित तथा अनादि कहती है। **कठोपनिषद्** के अनुसार, वास्तव में जीवात्मा न तो उत्पन्न होता है और न मृत्यु को ही प्राप्त होता है। जन्म और मरण शरीर के होते हैं, आत्मा के नहीं।[10] **श्वेताश्वतर उपनिषद्** में आता है, जीव नित्य का नित्य है, चेतना का चेतन है।"[11] पुनः "वह सर्वव्यापी है, सबभूतों का अन्तरात्मा है। वह साक्षी है, चित् स्वरूप है, उपाधिरहित तथा निर्गुण है।"[12]

ब्रह्मसूत्र कहता है कि जन्म और मृत्यु शरीर के होते हैं, आत्मा के नहीं।[13] जीवात्मा जन्म और मरण से रहित है। वह नित्य और शाश्वत है।[14]

आत्मा शरीर से भिन्न अपरिवर्तनशील एवं शाश्वत सत्ता है :

आत्मा शरीर से भिन्न है। शरीर का जन्म एवं उसकी मृत्यु होती है जबकि आत्मा अनादि और शाश्वत है। शरीर विनाशी है परिवर्तनशील है जबकि आत्मा अपरिवर्तनशील है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कहते है कि जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है।[15]

"वासांसि जीर्णानि यथा विहायनवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।" (2/22)

गीता आगे कहती है कि जैसे जीवात्मा की इस देह में बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है; उस विषय से धीर पुरुष मोहित नहीं होता।[16] इस प्रकार गीता का मत है कि अपूर्णता के कारण उत्पन्न जन्म का मृत्यु में, मृत्यु का जन्म में परिणत होना आवश्यक है। जन्म और मृत्यु का चक्र वैसा ही है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि जैसे इस शरीर में आत्मा बचपन से यौवन और वृद्धावस्था में से होकर गुजरता है उसी प्रकार यह शरीर से दूसरा शरीर धारण कर लेता है।[17] **विष्णु स्मृति** में कहा गया है कि मानव प्राणी जन्म और मरण की एक शृंखला से गुजरता हुआ अपने को अमरता योग्य बना लेता है। शरीर के होने वाले परिवर्तनों का अर्थ आत्मा के परिवर्तन से नहीं है उसके द्वारा धारण किए हुए शरीर में से कोई भी नित्य नहीं

है।[18] शरीरधारी के शरीर में बाल्यावस्था आती है फिर युवावस्था फिर वृद्धावस्था आती है। तात्पर्य यह है कि शरीर में कभी एक अवस्था नहीं रहती उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। जैसे स्थूल शरीर बालक से जवान एवं जवान से बूढ़ा हो जाता है तो उस अवस्थाओं को लेकर शोक नहीं करता। ऐसे ही यह आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में परिवर्तित हो जाती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि सर्दी–गर्मी और विनाशशील सुख–दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति–विनाशशील और अनित्य है।[19] ये आत्मा के नहीं अपितु शरीर के गुण हैं। आत्मा तो सर्दी–गर्मी और सुख–दुःख से शून्य और उत्पत्ति–विनाश रहित है। अगर बीज को पृथ्वी में बो दिया जाय तो वह अंकुरित हो जाता है और धीरे–धीरे बढ़कर वृक्ष हो जाता है तथा आयु समाप्त हो जाने पर सूख जाता है। यदि बीज एक क्षण भी एकरूप रहता तो वृक्ष बनकर फिर सूखने की क्रिया नहीं होती। इसी प्रकार शरीर क्षण–प्रतिक्षण एक न रहकर बदलता रहता है मगर आत्मा का अस्तित्त्व कभी नहीं बदलता। अतः जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु सुनिश्चित है और जो मर गया उसका जन्म लेना सुनिश्चित है और यह क्रम चलता रहता है। यह सारी प्रकृति नाशवान है और सांसारिक अर्थ में कोई वस्तु नित्य नहीं है, परन्तु जीवन की प्रत्येक पूर्ण उपलब्धि में शाश्वत वास्तविक रूप धारण कर लेता है और काल में होने वाला विकास इस मूल लक्ष्य का साधन है।[20]

आत्मा के सम्बन्ध में श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि हे भारत! सबके शरीर में निवास करने वाला आत्मा शाश्वत है वह कभी मारा नहीं जा सकता। वह सबके शरीर में सदा ही अवध्य है। अतः तुम्हें किसी प्राणी के लिए शोक नहीं करना चाहिए।[21]

"देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।" (2/30)

वस्तुओं के साथ सम्पर्क के कारण सुख–दुःख की मनोवृत्तियाँ स्वभाव की शक्ति द्वारा निर्धारित होती है। ऐसा कोई बन्धन नहीं है कि सफलता पर प्रसन्न और असफलता पर दुःखी हुआ जाय। हम इन दोनों संपूर्ण तथा उदासीन रह सकते हैं। आत्मा अपार, अनन्त और नित्य है, वह देश काल से भी परे है। वह शरीर से पहले भी था और बाद में भी रहता है, वह तीनों गुणों से परे, निष्क्रिय और साक्षी है। गुणातीत होने के कारण वह

सुख–दुःख से परे केवल तटस्थ द्रष्टा मात्र है। जिस प्रकार सर्वव्याप्त आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं रहता वैसे ही देह में स्थित आत्मा निर्गुण होने के कारण देह के गुणों में लिप्त नहीं रहती। जिस प्रकार एक सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है उसी प्रकार आत्मा भी सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित करती है। अतः वह नित्य शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील सत्ता है।

सन्दर्भ सूची :

[1] गी0. 2/21–20, 2/24

[2] छा0 उप0. शांकरभाष्य. 8/7/1

[3] न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। – गी0, 2/20

[4] राधाकृष्णन्, भगवद्गीता, 2/21, पृ0 113; गी0, 2/21

[5] स्वामी रामसुखदास : साधक संजीवनी, पृ0 76

[6] अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। – गी0, 2/24

[7] नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। – वही, 2/23

[8] अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। – वही, 2/25

[9] वही, 13/31

[10] क0 उप0, 1/2/18

[11] श्वे0 उप0, 6/13

[12] वही, 6/11

[13] ज्ञोऽत एव। – ब्र0सू0, 2/3/18

[14] तस्य च नित्यत्वात्। – वही, 2/4/16

[15] वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। – गी0, 2/22

[16] देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति। – वही, 2/13

[17] राधाकृष्णन् : भगवद्गीता, पृ0 110

[18] विष्णु स्मृति, 20/49

[19] गी0, 2/14

[20] राधाकृष्णन् : भगवद्गीता, पृ0 116

[21] देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।। – गी0, 2/30

(57)

PROGRESS REPORT OF Ph.D.Work

1. Name of Research Scholar :- Ravi Kumar Ram
2. Registration No. :- PHDPU20PHI03
3. Title of the Ph.D.thesis :- "श्रीमदभगवदगीता के अनुसार आत्मा, परमात्मा और कर्म–सिद्धान्त की अवधारणा एवं वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य मे इसकी प्रासंगिकता।"

4. Progress Report :- After completion of study material Review from the Library.

- Collect the study material from various sources like publications, articles, journals, newspapers, books published by various authors and written it roughly.
- After completion of library work .
- prepared questionnaire with the guidance from my supervisor.

रवि कुमार राम

Signature of the Ph.D. Research Scholar

Ravi Kumar Ram

Purnea University, Purnea

Format for submission of Six-Monthly Progress Report
(To be submitted by the Ph.D. Research Scholar)

1. **Name of the Candidate**: RAVI KUMAR RAM

2. Name(s) of the Supervisor and Co-Supervisor(s): Dr.ANITA MAHTO

3. **Topic of Research**: श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आत्मा, परमात्मा और कर्म-सिद्धान्त की अवधारणा एवं वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी प्रासंगिकता।

4. Six-Monthly Progress Report for the period, From:. March 2021 To : September 2021

5. Progress Report to be submitted in detail on separate sheet (Please add separate sheet, if necessary) : separate sheet attached

6. Quantum of Ph.D. work completed:
(Please tick the appropriate box)

(a) 0 ± 10%	☐	(b) 11 ± 20%	☐	(c) 21-30%	☑
(d) 31-50%	☐	(e) 51-75%	☐	(f) 76-100%	☐

रवि कुमार राम
.....
(Signature & Name of the Ph.D. Research Scholar)

7. Remarks of the Supervisor:

The work of research scholar is satisfactory

.....

The Scholar has done research work 30% successfully and completed in above time.

Name & Signature of Supervisor Anita Mahto

Recommendation of the Departmental Research Committee (DRC)

Recommended

.....

.....

Signature of the Chairperson
Departmental Research Committee

3. तृतीय अध्याय– श्रीमद्भगवद्गीता में परमात्मा विचार

परमात्मा सभी आत्माओं से परम, उत्तम अथवा श्रेष्ठ है। अत: उन्हें परम पुरूष, पुरूषोत्तम या दिव्य पुरूष कहा गया है। परमात्मा एक है, अनुपमेय है, परमात्मा अनादि, अविनाशी और अनन्त है। श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं भगवान कहते है कि–

"कविं पुराणमनुशासितार मणोरणीयांसमनुस्मरेद्य ।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप मादित्यवर्णं तमस: परस्तात ।।" (8/9)

अर्थात मेरे रूप अणु से भी सूक्ष्म है, अचिन्त्य है, सूर्य वर्ण और ज्योतिस्वरूप है। इससे स्पष्ट है कि परमात्मा का यह रूप आत्मिक है कायिक नहीं है। ऐसा ही रूप होने के करण कहा गया है कि–

"बिन पग चले सुने बिन काना।

बिन कर करम करे विधिनाना।"

इसलिए परमात्मा को अशरीरी कहा जाता है। परमात्मा का यह रूप अपरिवर्तनीय है। यह अति सूक्ष्म होने से अविनाशी है क्योंकि यह अविभाज्य है। परमात्मा के इस रूप के न कोई अंग है और न कोई अंश। यह न घटता है और न बढ़ता है। न यह प्रकृति के परिवर्तन से प्रभावित होता है। परमात्मा अव्यक्त है।

श्रीमद्भगवद्गीता में परमतत्त्व या ईश्वर का स्वरूप क्या है? विभिन्न भाष्यकारों में इस विषय को लेकर मतभेद है। प्रत्येक भाष्यकार अपने–अपने मन्तव्य को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। गीता के भाष्यकारों में **आचार्य शंकर** एवं **तिलक** ने निर्गुण ब्रह्म को तो **रामानुज** ने सगुण ब्रह्म को सर्वोच्च सत्ता के रूप में प्रतिपादित करने का प्रयास किया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्तव्य–पालन का, भक्तिपूर्वक निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि वे ही परम ईश्वर हैं एवं जगत के आदिकारण हैं।[1] उनकी उपासना में ही मोक्ष निहित है। गीता में जगह–जगह श्रीकृष्ण अपने व्यक्तिस्वरूप को लक्ष्य करके अपने व्यक्त स्वरूप का उपदेश देते हैं। 'जीव मेरा अंश है'[2], 'प्रकृति मेरा स्वरूप है'[3] तथा 'सब भूतों का अंतर्यामी आत्मा मैं ही हूँ'[4] इत्यादि। श्रीकृष्ण अपने विश्वरूप–दर्शन से अर्जुन को यह प्रत्यक्ष अनुभव करा देते हैं कि सारी चराचर सृष्टि उनके व्यक्त रूप में ही साक्षात बसी हुई है। तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को

यही उपदेश दिया कि अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप की उपासना करना अधिक सहज है। इस प्रकार गीता में आदि से अन्त तक अधिकांश जगह भगवान् के व्यक्त स्वरूप का ही वर्णन किया गया है। परन्तु उक्त वर्णन के साथ ही श्रीकृष्ण ने परमतत्त्व के पररूप या निर्गुण रूप को और अव्यक्त रूप को ही मूल बताया। गीता में कहा गया है कि, "यद्यपि मैं अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों को अगोचर हूँ, तो भी मूर्ख लोग मुझे व्यक्त समझते हैं और व्यक्त से भी परे के मेरे श्रेष्ठ तथा अव्यक्त रूप को नहीं पहचानते।"[5] इसी तरह अन्य स्थानों पर भी परमतत्त्व के अव्यक्त या पर रूप को ही मूल तत्त्व बताया गया है।[6] इस प्रकार गीता परमतत्त्व के अव्यक्त रूप को ही मूल सत् मानती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि गीता परमतत्त्व के व्यक्त स्वरूप को असत् मानती है बल्कि व्यक्त स्वरूप भी उसी का है, अतः वह असत् नहीं। गीता में हम ब्रह्म के प्रायः सभी रूपों (सगुण, निर्गुण तथा सगुण–निगुण) का वर्णन पाते हैं।

गीता के ब्रह्म एवं उपनिषदों के ब्रह्म में पर्याप्त समानता है। गीता के समान उपनिषदों में भी ब्रह्म के प्रायः सभी रूपों का वर्णन मिलता है। अतः हिल के मतानुसार, गीता का ब्रह्म उपनिषदों का ब्रह्म है।[7]

परमात्मा की प्रकृति

गीता की तत्त्वमीमांसा के अनुसार परमसत्ता पुरुष शाश्वत, दिव्य, आदिदेव, अज, विभु है। अव्यय, स्थायी, अनादि, अनन्त निर्विकार और एक है। उसकी परा और अपरा दो प्रकृतियाँ हैं। अपरा प्रकृति जड़ भूता है और परा जीव भूता प्रकृति है जो जड़ प्रकृति को धारण करती है। दोनों प्रकृतियों के संयोग से समस्त भूत उत्पन्न हुए हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक है जिससे बना हुआ सम्पूर्ण जगत् और उसके समस्त भूत परिवर्तनशील हैं। इस प्रकार स्वयं वही तत्त्व अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के रूप में सृजन है, विनाश है, मध्य (स्थिति) है तथा अव्यक्त रूप में समस्त भूतों के पूरे फैलाव को एक सूत्र में गूंथे हुए है। [8] सबके सार तत्त्व के रूप में वह स्थायी है और ऊपरी रूप आकार के रूप में परिवर्तनशील है, क्षण भंगुर है। परिवर्तन के आधार के रूप में वह शुद्ध सत्ता है जो निर्गुण निराकार है और पीछे के परिभाषाओं के अनुसार वही सत् है।

उपनिषदों का मत :

उपनिषदों में जगत् की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ उत्पन्न होती है और मकड़ी जाले का निर्माण करती है उसी प्रकार ब्रह्म सभी लोकों, देवों और प्राणियों को उत्पन्न करते है।[9] श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार मकड़ी जाले का निर्माण कर उसमें अपने को आच्छादित कर लेती है उसी प्रकार ब्रह्म ने सर्वप्रथम जगत् की रचना की, इसके पश्चात् उन्होने अपने को उसी में तिरोहित कर लिया।[10]

मुण्डक उपनिषद् के अनुसार जिस प्रकार मकड़ी जाले का निर्माण करती है और फिर उसे निगल लेती है तथा जिस प्रकार पृथ्वी से औषधियाँ उत्पन्न होती है और जीवित पुरुष से केश तथा लोम उत्पन्न होते हैं।[11] उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से सम्पूर्ण कार्य, भाव उत्पन्न होते हैं और अन्त में उन्हीं में विलीन हो जाते हैं।[12] उन सर्वज्ञ और तप से अभिवृद्ध ब्रह्म से ही नाम और रूप वाला यह विराट जगत् उत्पन्न हुआ है।[13] **ऐतरेय उपनिषद** के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में केवल ब्रह्म था। उनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। उन्होने सर्वप्रथम लोकों की रचना करने का संकल्प लिया।[14] **तैत्तिरीय उपनिषद्** में ही कहा गया है कि ब्रह्म से सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ। इसके पश्चात् आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न तथा अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। [15] इस प्रकार उपनिषदों का मत है कि जगत् का निर्माण ईश्वर की इच्छा पर ही निर्भर है। उसकी इच्छा से ही पंचभूतों का निर्माण होता है और सृष्टि का प्रारम्भ होता है।

गीता का मत :

उपनिषदों की भाँति गीता में भी कहा गया है कि इस जगत् के कर्त्ता ब्रह्म हैं।[16] कल्प के अन्त में सम्पूर्ण भूत ब्रह्म की प्रकृति में आकर मिल जाते है तथा भावी कल्प के आरम्भ में ब्रह्म उन भूतों का पुनः निर्माण करते हैं।[17] ब्रह्म प्रकृति को स्वीकार कर स्वभाव के बल से परतंत्र सम्पूर्ण भूत–समुदाय को बार–बार रचते हैं।[18] सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेश–काल में अव्यक्त (ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर) से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेश–काल में उसी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं।[19] वही भूत–समुदाय उत्पन्न होकर प्रपत्ति के वश में हुआ रात्रि के प्रवेश काल में लीन हो जाता है और दिन के प्रवेश–काल में फिर उत्पन्न हो जाता है।[20]

गीता में माया का स्वरूप :

गीता में जगत् की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ईश्वर की माया त्रिगुणात्मक और दुस्तर है तथा वह सम्पूर्ण जीवों को मोहित कर लेती है।[21] परमात्मा सबके हृदय–प्रदेश में स्थित होकर सम्पूर्ण जीवों को अपनी माया से नचाते हैं।[22] माया के बन्धन में आबद्ध जीव अपने हृदस्थ ईश्वर को नहीं जान पाते हैं।[23]

गीता में माया को ईश्वर की प्रकृति के रूप में उल्लिखित किया गया है तथा उसके दो रूपों को बतलाया गया है– **अपरा प्रकृति** तथा **परा प्रकृति**। अपरा प्रकृति के आठ अंग बतलाये गये हैं– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार। अपरा प्रकृति जड़ होती है।[24] परा प्रकृति की व्याख्या में बतलाया गया है कि परमात्मा की परा प्रकृति सम्पूर्ण जगत् को धारण करती है। यह जीव रूपा अर्थात् चेतन होती है।[25] जगत् के सम्पूर्ण प्राणी और पदार्थ उपर्युक्त दोनों प्रकृतियों से उत्पन्न होते हैं।[26] गीता आगे कहती है कि पुरुष और प्रकृति; ये दोनों ही अनादि हैं। सम्पूर्ण गुण और विचार प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं।[27]

संसार–रूपी वृक्ष (अश्वत्थ) :

गीता के अनुसार यह जगत् अश्वत्थ वृक्ष के समान है। इस संसार–रूपी वृक्ष की जड़ें ऊपर की ओर हैं और इसकी शाखाएँ नीचे की ओर हैं। इस संसार–रूपी वृक्ष का कभी विनाश नहीं होता है।[28] इसकी शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। इनसे शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध रूपी विषयों के अंकुर फूटे हुए हैं तथा अन्त में कर्म का रूप पाने वाली अहन्ता, ममता तथा वासना रूपी इसकी जड़ें नीचे मनुष्य लोक में बढ़ती चली गयी है।[29] ऐसी ही व्याख्या **कठ उपनिषद्** में आयी है, जिसमें जगत् को अश्वत्थ के वृक्ष के रूप में वर्णित करते हुए बतलाया गया है कि यह जगत् रूपी पीपल (अश्वत्थ) का वृक्ष अनादि काल से है। यह कभी प्रकट रूप में और कभी अप्रकट रूप में अपने कारण रूप ब्रह्म में सदैव स्थित रहता है। इसकी जड़े ऊपर की ओर हैं और इसके शाखाएँ नीचे की ओर हैं। इसका मूल आधार है जो ऊपर है। ब्रह्मादि देव इसकी शाखा के समान है जो क्रमशः नीचे है।[30]

इस प्रकार गीता में संसार को अश्वत्थ वृक्ष कहा गया है। इस संसार वृक्ष की स्थिति से ज्ञात होता है कि उसका सिंचन प्रकृति के तीन गुणों द्वारा होता है, यह वृक्ष इन गुणों द्वारा सींचे जाने से हरा–भरा होता जाता है और उसमें विषय–रूप–शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गंध की कोपलें निकलती है। इस वृक्ष की शाखाएँ

ऊपर–नीचे फैली हुई हैं। इसकी नीचे की जड़ें मनुष्य लोक में विशेष रूप से विस्तृत हैं क्योंकि मनुष्य लोक में कर्म के बन्धन में इस वृक्ष का अस्तित्त्व बद्धमूलक है। मनुष्य फलवासना के कारण कर्मों में आसक्त होता है और उसमें वासना की जड़ें दृढ़ होती है। गीता मानती है कि संसार वृक्ष का क्षरत्व तत्त्वज्ञान से होता है, तत्त्वज्ञान के पश्चात् संसार का मूल अज्ञान नष्ट हो जाता है और अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।

सांख्य एवं गीता के मतों की तुलना :

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष दो स्वतंत्र तत्त्वों की मान्यता को स्वीकार किया गया है। इसी कारण उसे द्वैतवादी भी कहा जाता है। परन्तु गीता इस अर्थ में द्वैतवादी नहीं है क्योंकि वह उन्हें स्वतंत्र द्रव्यों के रूप में मान्यता प्रदान नहीं करती। सांख्य व्याख्याकार सृष्टि अथवा जगत् की व्याख्या के लिए दोनों के संयोग को पर्याप्त मानते हैं अतएव ईश्वरीय सत्ता की आवश्यकता नहीं समझते परन्तु यह संयोग वास्तव में सत्य है? यदि सत्य मान लिया जाय तो पुरुष कभी मुक्त नहीं हो सकता। दूसरा, पुरुष मूल रूप में शुद्ध, चैतन्य, नित्य, कूटस्थ है, ऐसी स्थिति में उसे प्रकृति पुरुष का बोध कैसे होता है? आदि प्रश्नों की व्याख्या संभव नहीं हो पाती।

गीता में क्षर–अक्षर या व्यक्त–अव्यक्त की अवधारणा सांख्य–दर्शन की अपेक्षाकृत भिन्न अर्थों में गृहीत है। सांख्य के अनुसार क्षर अर्थात् जगत्‌ादि पदार्थ अक्षर (प्रकृति) के विकार हैं जबकि गीता में प्रयुक्त क्षर–अक्षर का अर्थ प्रकृति–पुरुष के सन्दर्भ में स्पष्ट किया गया है। यही कारण है कि सांख्यवादियों का द्वैत प्रकृति और पुरुष भगवद्गीता को मान्य नहीं है। गीता के अध्यात्मशास्त्र तथा वेदान्तशास्त्र का भी पहला सिद्धान्त यह है कि प्रकृति और पुरुष के भी परे एक व्यापक शाश्वत और अमृततत्त्व है जो चर–अचर का मूल स्त्रोत है। यद्यपि सांख्यों की प्रकृति जगत् का मूल कारण है तथापि वह त्रिगुणात्मक अर्थात् सगुण है। सांख्य में तो तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है, इन गुणों से भिन्न प्रकृति नाम का कोई द्रव्य नहीं है। प्रकृति यथार्थ है और इसलिए उसका परिणामरूप यह जगत् भी यथार्थ है।

इधर गीता जगत् की सत्ता को अस्वीकार नहीं करती जो कि ईश्वर के नाते विद्यमान है और जिसके आगे–पीछे, ऊपर–नीचे परमात्मा है। जगत् परमात्मा के कारण ही

दिखाई देता है। जो परमात्मा जगत् के बिना ही स्वयं कम नहीं है। परमात्मा के विपरीत जगत् का अपना विशिष्ट उसके अन्दर नहीं है इसलिए इसका अस्तित्त्व सीमित है परम नहीं। गीता में आया है कि जैसे सर्वगत वायु सर्वथा आकाश में स्थित रहती है वैसे ही सभी भूतों का निवास मेरे अन्दर होता है।"[31]

जगत् एवं ईश्वर : ब्रह्म पर्यन्त समस्त भूत समुदाय परिवर्तनशील है।[32] अन्त में, प्रलय की स्थिति में सब कुछ प्रकृति में लीन (अव्यक्त) हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि कल्प के आदि से उन्हें मैं फिर से रच देता हूँ। मैं ऐसा अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर ही बार–बार करता हूँ और सम्पूर्ण प्राणी भी प्रकृति के वश में होकर ही रहते हैं, कर्म करते हैं। मैं खुद उन कर्मों में नहीं बंधता। इस प्रकार मेरी अध्यक्षता में यह प्रकृति चराचर को विपरिवर्तित करती है और इसी कारण से संसार चक्र चल रहा है।[33] परा–अपरा प्रकृति से भी ऊपर उसका अध्यक्ष है जो अव्यक्त परमसत्ता है और जो सब कुछ के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता।[34] यहाँ सब कुछ का तात्पर्य चराचर जगत् के 'व्यक्त' रूप से है। अव्यक्त प्रकृति तथा उसका नियंता यही स्थायी तत्त्व है। यह दो नहीं है केवल स्तर भेद है। वही नियंता है, वही प्रकृति है यहाँ तक कि संसार के होने पर उसकी परिवर्तनशील अनेकता में दृश्यमान अस्तित्त्ववान पदार्थों के रूप में भी वही है। उसी से सब कुछ निकलता है।[35] फिर भी वह इन सब से सर्वथा स्वतंत्र है। श्रीकृष्ण बताते हैं कि तीनों गुण मेरे में है फिर भी मैं उनसे तटस्थ हूँ।[36] सारा परिवर्तन गुणों से ही हो रहा है, वह भी मैं हूँ और उनसे परे भी मैं हूँ। संसार में त्रिगुणात्मक भूतों के रूप में और सबसे एक सूत्रता में गूंथने वाले अव्यक्त के रूप में स्थायी तत्त्व अपनी ही प्रकृति का आश्रय लेकर शान्त (सत्त्व), घोर (रजस्) और मूढ़ (तमस्) के रूप में सर्वत्र दिखाई दे रहा है।[37] इन्हीं गुणों से मोहित होकर संसार 'अव्यक्त' तत्त्व को नहीं जान पाता।[38] जबकि वही इस जगत् का पिता, माता, धाता, पितामह, बन्धु, जानने योग्य आदि सब कुछ है। वही जगत् या सृष्टि का लक्ष्य है, पोषणकर्त्ता, साक्षी, निवास, शरण, प्रभव, प्रलय, स्थिति और बीज सब है। कुछ भी ऐसा नहीं जो वह न हो और कुछ भी ऐसा नहीं जो उसके बिना हो। भूतस्थ रूप में वह अव्यक्त है और उसके आधार स्वरूप अव्यक्त रूप में वह स्थायी है। भूत भिन्न रूप में वह परिवर्तन और स्थायित्त्व दोनों से परे है।

ईश्वर एवं सृष्टि (जगत्) के सम्बन्ध को हम निम्नलिखित उदाहरणों से समझ सकते है– मूल प्रकृति (ईश्वर तत्त्व)जल का एक असीम समुद्र रूप है। वही जल तत्त्व कण–कण के रूप मे सर्वत्र व्याप्त है। वास्तव में समुद्र जल तथा जीवों, वनस्पतियों, हवा, वाष्प, बादलों के कण–कण रूप में व्याप्त जल इन दोनों का मूल एक ही है– किन्तु दोनों का अस्तित्त्व अलग–अलग भी है, साथ ही दोनों का अवियोज्य सम्बन्ध भी है। वाष्प, बादल आदि के रूप में प्राणियों, वनस्पतियों में व्याप्त कण–कण के रूप में जितना भी जल तत्त्व है उसका उद्गम और लय सागर में है। इसलिए वे एक–दूसरे में है और नहीं भी है। इनमें भेद भी है, अभेद भी है। इसलिए सागर समस्त जल सृजन की एक महाशक्ति है। इसी प्रकार ईश्वर तत्त्व प्राणीमात्र (भूतमात्र) में होते हुए भी उसका स्वंतत्र, सामर्थ्यवान ऐसा अस्तित्त्व है जो समस्त ब्रह्माण्ड में समस्त भूतों की उत्पत्ति और लय का अधिष्ठाता है; जैसा कि श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश' यह पंचतत्त्व और मन, बुद्धि, अहंकार इन आठ तत्त्वों में मेरी प्रकृति विभक्त है। इससे स्पष्ट है कि उस प्राकृतिक आठ तत्त्वों से मिलकर जो प्रकृति (महानशक्ति) बनती है, वह परमात्मा की शक्ति का अंश है। इसी प्रकृति (योगमाया) को धारण कर ईश्वर सृष्टि का सृजन करता है जो किसी उद्देश्य के तहत नहीं बल्कि ऐसा लीलावश करता है क्योंकि वह तो आप्तकाम है।

सत्ता की त्रिविध संकल्पना (क्षर, अक्षर एवं पुरुषोत्तम) :

उल्लेखनीय है कि गीता सत्ता की त्रिविध संकल्पना हमारे सामने रखती है। 'क्षर', 'अक्षर' और पुरुषोत्तम की। तीनों सत्य हैं। अनेकता की दृष्टि से क्षर सत्य है तो एकता की दृष्टि से अक्षर। दोनों को समाहित करके पूर्णरूप में अवस्थित रहने वाली सत्ता ही चरम सत्य है। भूत भाव 'क्षर' कहा गया है।[39] वह और कुछ भी नहीं बल्कि परा–अपरा के संयोग से बना हुआ 'भूत समुदाय' है जो परिवर्तनशील है। अक्षर उस परिवर्तन का स्थायी आधार है। उसे परमसत्ता, ब्रह्म आदि भी कहा गया है जो कर्म–क्लेशादि की सीमितता या बंधन से अछूता है। अक्षर तत्त्व सर्वज्ञ, अनादि, सबका नियंता, सूक्ष्मादि सूक्ष्म, सबका धारण करने वाला, सारे परिवर्तनों का आधारभूत सत्ता, सूर्य सदृश चेतन प्रकाश रूप तथा अविद्या से अति परे है।[40] यह अक्षर अव्यक्त है।

सन्दर्भ सूची :

---

[1] गी0. 9 / 18

[2] वही. 17 / 7

[3] वही. 9 / 8

[4] वही. 10 / 20

[5] अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धय:।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।। – वही, 7 / 24

[6] वही. 7 / 25, 4 / 6, 7 / 14–15, 18 / 61

[7] W. Douglas P. Hill : The Bhagvadgita, P. 21.

[8] गी0. 7 / 4–7

[9] बृ0उप0. 2 / 1 / 20

[10] श्वे0उप0. 6 / 10

[11] मु0उप0. 1 / 1 / 7

[12] श्वे0उप0. 6 / 10

[13] मु0उप0. 1 / 1 / 9

[14] ऐ0उप0. 1 / 1

[15] तै0उप0. 2 / 1

[16] तस्य कर्तारमपि मां विद्धय कर्तारमव्ययम्। – गी0. 4 / 13

[17] सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।। – वही, 9 / 7

[18] वही, 9 / 8

[19] वही, 8 / 18

[20] वही, 8 / 19

[21] वही, 7 / 14

[22] वही, 18 / 61

[23] वही, 7 / 15

[24] वही, 7 / 4

[25] वही, 7 / 5

[26] एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारम। – वही, 7 / 6

[27] वही, 13 / 19

* [illegible]

[illegible] – [illegible]

* [illegible]

* [illegible]

[illegible] – [illegible]

* [illegible]

* [illegible]

* [illegible]

* [illegible]

* [illegible] – [illegible]

* [illegible]

* [illegible]

* [illegible]

* [illegible]

* [illegible]

PROGRESS REPORT OF Ph.D.Work

1. Name of Research Scholar :- Ravi Kumar Ram
2. Registration No. :- PHDPU20PHI03
3. Title of the Ph.D.thesis :- "श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आत्मा, परमात्मा और कर्म–सिद्धान्त की अवधारणा एवं वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी प्रासंगिकता।"

4. Progress Report :- During the work of study material colletion .

- Critically analysed the collected study material .
- After finalizing the study material analysis, I moved back to the university.
- Discussed the collected study material with my supervisor and according to her guidance, I further critically arranged and analysed the study material.

रवि कुमार राम

Signature of the Ph.D. Research Scholar

Ravi Kumar Ram

Purnea University, Purnea

(45)

Format for submission of Six-Monthly Progress Report
(To be submitted by the Ph.D. Research Scholar)

1. **Name of the Candidate:** RAVI KUMAR RAM

2. Name(s) of the Supervisor and Co-Supervisor(s): Dr.ANITA MAITO

3. **Topic of Research:** श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आत्मा, परमात्मा और कर्म–सिद्धान्त की अवधारणा एवं वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी प्रासंगिकता।

4. Six-Monthly Progress Report for the period, From:. September 2021 To : March 2022

5. Progress Report to be submitted in detail on separate sheet (Please add separate sheet, if necessary) : separate sheet attached

6. Quantum of Ph.D. work completed:
(Please tick the appropriate box)

(a) 0 ± 10%	☐	(b) 11 ± 20%	☐	(c) 21-30%	☐
(d) 31-50%	☑	(e) 51-75%	☐	(f) 76-100%	☐

रवि कुमार राम
(Signature & Name of the Ph.D. Research Scholar)

7. Remarks of the Supervisor:

The work of research scholar is satisfactory

The scholar has completed 50 % his research work successfully.

Name & Signature of Supervisor

Anita Maito

Recommendation of the Departmental Research Committee (DRC)

Recommended.

Signature of the Chairperson
Departmental Research Committee

4. चतुर्थ अध्याय– श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म–सिद्धान्त

मनुष्य के जन्म और मरण, उसके सुख और दुःख उसके कर्म पर ही आश्रित है। मनुष्य अपने ही कर्मों से सुख पाता है और अपने ही कर्मों से दुःख। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मों की गति के बारे मे कहा गया है–

"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।" (4/16)

अर्थात् कर्म क्या है और अकर्म क्या है? इस कर्मादि के विषय में बड़े–बड़े बुद्धिमान भी मोहित हो चूके है। इसलिए मैं तुम्हें वह कर्म और अकर्म बतलाऊँगा जिस कर्मादि को जानकर तू अशुभ से अर्थात् कर्म बन्धन से मुक्त हो जायेगा। कर्म ही गीता के उपदेश का सार है। जिसे निष्काम कर्म कहा गया है। निष्काम कर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच, कर्मवाद और सन्यास के बीच अथवा भोगवाद और वैराग्य के बीच सुन्दर सामंजस्य स्थापित करता है–

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सग्ङोऽकर्मणि।।" (2/47)

अर्थात् तेरा कर्म करने में ही अधिकार है। उसक फलों में कमी नहीं। इसलिए तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो। आध्यात्मिक पूर्णता को मोक्ष कहा गया है जिसमें जीव परमात्मा का साक्षात्कार करता है। आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कराने वाले मार्ग के रूप में योग का विधान है। गीता में योग के तीन पहुलओं की चर्चा है– कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। इसे त्रिविध योग की संज्ञा दी गयी है। मैं यहा कर्म–सिद्धान्त पर विचार करने से पहले योग के स्वरूप पर चर्चा करना चाहूँगा।

कर्मयोग

कर्मयोग का अर्थ : कर्मयोग दो शब्दों से मिलकर बना है– कर्म तथा योग। कर्म शब्द 'कृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है– करना, व्यापार या हलचल। कर्म करने की जो रीति, चतुराई या कुशलता है उसे योग कहते हैं। क्या करना चाहिए? और क्या नहीं करना चाहिए? के निर्णय की अवस्था में विद्वानों ने युक्ति या योग को ही स्वीकार किया है जिससे सांसारिक कर्मों का लोप तो होने न पाये और कर्म आचरण करने वाला किसी पाप

या बन्धन में भी न फँसे–ऐसा ही कर्म कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोग कर्म करने की ऐसी युक्ति है जिसमें व्यक्ति का परम मंगल तो निहित है ही, साथ ही संसार का भी हित होता है। स्वामी रामसुखदास ने कहा है, "कर्मयोग में कर्म तो संसार के लिए होता है और योग अपने लिए होता है।"[1] कर्मयोग के लिए व्यक्ति को केवल अपनी भावना बदलनी होती है। उसकी इन्द्रियाँ पहले भी कर्म करती थी और कर्मयोग के पालन में भी कर्म करती हैं, अन्तर केवल भावना में आता है।

'कर्म' का विश्लेषण :

वेद में अनेक प्रकार के कर्मों की चर्चा हुई है। वेद की मान्यता को स्वीकार करते हुए बतलाया गया है कि कर्म तीन प्रकार के हैं–

1. **नित्यकर्म** – नित्यकर्म वे हैं जिन्हें प्रत्येक दिन करना पड़ता है। ध्यान, स्नान, संध्या, पूजा आदि ऐसे ही कर्म हैं। नित्य कर्मों को करने से पुण्य का संचय नहीं होता परन्तु इनके नहीं करने से पाप का उदय होता है।
2. **नैमित्तिक कर्म** – ये विशेष अवसर पर किसी निमित्त हेतु किये जाने वाले कर्म हैं। चन्द्रग्रहण एवं सूर्यग्रहण के समय गंगा नदी में स्नान करना, जन्म, मृत्यु एवं विवाह के समय किये गये कर्म नैमित्तिक कर्म के उदाहरण हैं। इस कर्म को करने से विशेष लाभ नहीं होता परन्तु यदि इन्हें नहीं किया जाय तो पाप संचय होता है।
3. **काम्य कर्म** – ये कर्म किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं। जैसे, धन प्राप्ति, पुत्र–प्राप्ति, ग्रह शांति आदि के लिए जो यज्ञ, हवन कर्म आदि किये जाते हैं। काम्य कर्म करने से पुण्य का संचय होता है परन्तु न करने से पाप का उदय नहीं होता।

नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों के अतिरिक्त कुछ निषिद्ध कर्म और निषिद्ध कर्म करने वालों के लिए प्रायश्चित कर्मों का भी विधान बताया गया है।

साधारणतः कर्म शब्द का प्रयोग कर्म–सिद्धान्त के रूप में होता है इस प्रयोग के अतिरिक्त कर्म का दूसरा भी प्रयोग है। कर्म कभी–कभी शक्ति के रूप में भी प्रयुक्त होता है जिसके फलस्वरूप फल की उत्पत्ति होती है।

इस दृष्टिकोण से कर्म तीन प्रकार के कहे गये हैं–

1. **संचित–कर्म**
2. **प्रारब्ध–कर्म**
3. **संचीयमान–कर्म**

संचित–कर्म उस कर्म को कहते हैं जो अतीत कर्मों से उत्पन्न होता है और जिसका फल मिलना अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है। प्रारब्ध–कर्म वह कर्म है जिसका फल मिलना शुरू हो गया है, इस कर्म का सम्बन्ध अतीत जीवन से है। वर्तमान जीवन के कर्मों का फल, जो भविष्य में मिलेगा–ऐसा कर्म संचीयमान–कर्म कहा गया है। गीता में इस कर्म की आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया गया है। यहाँ पर संचीमान कर्म मानव को सांसारिक दुःखों से मुक्त करने में सक्षम सिद्ध हो सकता है। यह कर्म दो प्रकार का बताया गया है–

1. **सकाम–कर्म**
2. **निष्काम–कर्म**

वह कर्म जो राग, द्वेष तथा मोह से संचालित होता है सकाम कर्म कहा जाता है। दूसरे प्रकार का कर्म वह है जो राग] द्वेष एवं मोह से रहित होकर निष्काम भाव से किया जाता है, यह कर्म निष्काम कर्म कहा जाता है। गीता तीन प्रकार के कर्मों का उल्लेख करती है –

1 **सात्त्विक कर्म**

2 **राजसिक कर्म**

3 **तामसिक कर्म**

जो कर्म शास्त्रविधि से नियत हुआ और कर्त्तापन के अभिमान से रहित हो तथा फल न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना राग–द्वेष के किया गया हो वह **सात्त्विक** कहा जाता है। परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है तथा भोगो को चाहने वाले पुरुष द्वारा या अंहकार युक्त पुरुष द्वारा किया जाता है वह कर्म **राजस्** कहा जाता है। जो कर्म परिणाम] हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है वह **तामस्** कहा जाता है।[2] गीता में एक अन्य स्थान पर कर्म के तीन भेदों– **अकर्म, कर्म** एंव **विकर्म** के रूप में भी की चर्चा की गयी है। कर्म, अकर्म एवं विकर्म को अच्छी तरह से जानना चाहिये क्योंकि कर्म की गति अत्यन्त गूढ़ एवं रहस्यात्मक है।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।[3]

सकाम–भाव से की गयी क्रिया 'कर्म' बन जाती है। फलेच्छा, ममता और आसिक्त से रहित होकर किया गया कर्म 'अकर्म' बन जाता है। वह कर्म जो दूसरे का अहित करने अथवा उसे दुःख पहुँचाने के भाव से किया गया हो तो वह 'विकर्म' बन जाता है। इसलिए गीता कहती है– "जो मनुष्य कर्म में अर्कम देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है और वह योगी समस्त कर्मों को करने वाला है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।[4]

कर्मयोग का स्वरूप :

गीता ने प्रतिपादित कर्मयोग का तात्पर्य वेदशास्त्र अथवा स्मृति समस्त यज्ञादि कर्म के भाव से नहीं है और न ही भौतिकवादियों की तरह इन्द्रियजन्य, भोगवादी कर्मों से है। वस्तुतः कर्म के स्वरूप एवं प्रकृति निर्धारण को लेकर संसार में विद्वानों द्वारा अनेक विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया फिर भी व्यवहार में कर्म की महत्ता एवं अनिर्वायता को सभी ने अपने–अपने मानदण्डों पर स्वीकार किया है। जैसा कि गीताकार कहते हैं कि मनुष्य कर्म करता है, कर्म करना मुनष्य का स्वभाव है, मनुष्य कर्म का त्याग नहीं कर सकता, कर्म का पूर्णतया त्याग करने से मनुष्य जीवित नहीं रह सकता।[5] अतः मनुष्य को कर्म करना अनिवार्य है।[6] प्रत्येक कर्मों के सम्पादन में मनुष्य के अन्दर यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि उसका कर्म कैसा हो? और वह सम्भवतः ऐसे कर्मों का चयन भी करना चाहता है जो सुखद और कल्याणकारी हों। इसी आदर्श को स्थापित करने का कार्य गीता करती है। तथापि व्यवहार की परिधि में यद्यपि भिन्न–भिन्न परस्पर विरूद्ध मार्ग वाले विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया है, फिर भी गीता अपने गहन एवं सुबोध चिन्तन द्वारा, समस्त एकांगी प्रवृत्तियों का उच्छेदकर एक समग्रपरक कर्म की अवधारण का प्रतिपादन भी करती है। मनुष्य मात्र भौतिक उन्नति एवं समृद्धता की प्रगति से ही संतुष्ट नहीं हो सकता । उसके अन्दर जैविक प्रवृत्तियों के इतर विवेकपरक जीवन जीने की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। मनुष्य पशु के स्तर से ऊपर उठा हुआ प्राणी है उसे केवल उपभोक्ता के रूप में मानकर चलना, मानव जाति के लिए एक आत्मघाती कदम होगा। यही कारण है कि अति सम्पन्न व्यक्ति भी उस आनन्द की भाव मुद्रा की प्राप्ति नहीं कर पाता, जो शंकर,

विवेकानन्द, महावीर स्वामी, गौतम बुद्ध की मुद्रा में दिखायी देती है– एक सुखद अनुभूति एवं शान्त भाव की मौन अभिव्यक्ति की तरह।

गीता में हम पाते हैं कि श्रीकृष्ण द्वारा बताये गये योग के आधार पर अर्जुन जिस महाभारत युद्ध के लिए उद्यत हुआ क्या उसमें आत्मा, परमात्मा और कर्म के मूल्यों को संरक्षण मिला? अर्जुन के अपने विवेकानुसार निर्धारित मूल्यों आदर्शों का क्या कोई मूल्य नहीं है? आदि द्वन्द्वयुक्त प्रश्नों से युक्त इस कर्मयोग का स्पष्टीकरण विशेषकार अन्तरंग पहलुओं की कसौटी पर सिद्ध किया गया है, यद्यपि बहिरंग पक्ष का भी ध्यान रखा गया है। बाह्य पक्ष के गौण होने का कारण यह है कि एक समान से दिखने वाले कर्म वस्तुतः कर्मयोग का महत्त्वपूर्ण आधार उसका आन्तरिक निरूपण ही है जो सामाजिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों का तर्कसंगत एवं मानवीय विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

कर्म का भौतिकवादी आदर्ष : कर्म का भौतिकवादी आदर्श मानता है कि इन्द्रियजन्य सुख की कसौटी ही, कर्म के अच्छा एवं बुरा होने का आधार है। भारतीय चिन्तन में इस अवधारणा का उल्लेख चार्वाक सम्प्रदाय के जीवन दर्शन में दिखाई देता है। वे प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं और 'खाओ–पीओ, मौज करो' के आदर्शों, को स्वीकार करते हैं।

चार्वाक का मानना है कि लोकायत ही एकमात्र शास्त्र है जिसमें प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ही तत्त्व है, अर्थ और काम पुरुषार्थ है, भूतों (पृथ्व्यादि) से चैतन्य उत्पन्न होता है, कोई परलोक नहीं है, मृत्यु ही निर्वाण है। इस प्रकार चार्वाकों ने मानवीय जीवन के व्यवहार में निहित वैचारिक पक्ष की अवहेलना किया है और यथार्थ कहा जाय तो इसने मनुष्य को पाश्विक स्तर पर लाने का प्रयास किया गया है।

कर्म का वैदिक आदर्ष : प्राचीन वैदिक धर्म के अनुसार देखा जाय तो यज्ञ आदि कर्मकाण्ड ही ऐच्छिक कर्म के रूप में विहित किया गया है। मीमांसकों के अनुसार अपौरुषेय वेदवाक्य ही कर्त्तव्यता का एक मात्र मूल स्रोत है। वैदिक या श्रौत यज्ञ–याग करना ही प्रधान धर्म है। मनुष्य जो कुछ करता है यज्ञ के लिए करता है। इसका पालन निष्काम–भाव से होना चाहिए। यज्ञार्थ किया गया कर्म बन्धनकारी नहीं होता।

उपर्युक्त मतों ने चार्वाक विचारधारा की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक मूल्यों एवं आध्यात्मिक चिन्तन के अभाव में कर्मों की नियोजना अराजक अवस्था में पहुँचा सकती है। दूसरी तरफ मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित यज्ञ–यागादि कर्मकाण्डों से हमारी व्यावहारिक समस्याओं का ही समाधान हो पाता है और न ही आध्यात्मिक

(आन्तरिक) पक्ष का जागरण। वास्तव में यह विचारधारा मानवीय चिन्तन प्रक्रिया में एक प्रारम्भिक चरण है, जहाँ ऋषि–मनीषी अपने जीवन के सुख–समृद्धि हेतु देवताओं के माध्यम से यज्ञों का आह्वान करते हैं। इसी कारण उपनिषदीय चिन्तन आगे चलकर बुहिर्मुखी विधानों से हटकर अन्तर्मुखी प्रणाली को अधिक महत्त्व देने लगता है।

गीता के कर्मयोग के सारतत्व को स्पष्ट करते हुए **श्रीअरविन्द** कहते हैं कि "अपने प्राकृत जीवभाव और साधारण मनोभाव से ऊपर उठो, अपने बैद्धिक और नैतिक भ्रमजालों से ऊपर उठो और उस चिद्भाव में आ जाओ जहाँ का जीवन विधान कुछ दूसरा है और इसलिए जहाँ कर्म का विचार एक दूसरे ही दृष्टि से किया जाता है, वहाँ कर्म के चालक वैयक्तिक काम और भावावेग नहीं होते, वहाँ द्वन्द्व दूर हो जाते हैं, वहाँ कर्म हमारे अपने नहीं रह जाते हैं, वहाँ विराट निर्वैयक्तिक भागवत् सत्ता हमारे द्वारा जगत् में अपने हेतु को क्रियान्वित करती है, वहाँ हम स्वंय एक दिव्य नवजन्म के द्वारा उसी सत् के सत्, उसी चित, के चित, उसी आनन्द के आनन्द हो जाते हैं और तब हम अपनी इस निम्न प्रकृति के अन्दर नहीं रह जाते, हमारे लिए अपना कर्म नही रह जाता, अपना कोई वैयक्तिक हेतु नहीं रहा जाता, बल्कि वह एक भागवत् कर्म हो जाता है। यहाँ बाह्य प्रकृति उस कर्म का कारण नहीं, प्रेरक नहीं, केवल एक अबाध, शांत, उपकरण मात्र होती है, क्योंकि प्रेरक शक्ति तो हमारे कर्मों के अधीश्वर की इच्छा में हमारे ऊपर रहती है।"[7]

अहंकाररहित होकर कर्म करना ही कर्मयोग है :

सामान्यतया हम कर्म करते हैं और अपने को कर्त्ता समझते हैं। गीता कहती है, कर्म अव्यक्त प्रकृति के गुणों का व्यापार है। अज्ञानता अथवा अभिमान के कारण मनुष्य अपने को कर्त्ता मानता है।[8] कर्मयोगी वह है जो इस अभिमान से रहित हो कर्म करे। परन्तु ऐसा नहीं कि बिना कर्त्तापन के कर्म हो सकता है। गीता संकल्प–स्वातन्त्र्य को भी स्वीकारती है। क्योंकि गीता का उपदेश देते समय ही श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, 'यथेच्छसि तथा कुरू'[9] अर्थात्–'जैसा तुम चाहो वैसा करो' मैनें सारी बातें तुम्हें बता दी है।

सन्दर्भ सूची :

---

[1] स्वामी रामसुखदास, श्रीमद्भगवद्गीता का कर्मयोग, पृ0 28

[2] गी0, 18/23–25

[3] गी0 4/17

[4] गी0 4/18

[5] न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।। –गी0 3/5

[6] वही, 3/8

[7] अरविन्द : गीता प्रबन्ध, पृ0 446–447

[8] गी0, 3/27, 13/29

[9] वही, 18/63

PROGRESS REPORT OF Ph.D.Work

1. Name of Research Scholar :- Ravi Kumar Ram
2. Registration No. :- PHDPU20PHI03
3. Title of the Ph.D.thesis :- "श्रीमदभगवद्गीता के अनुसार आत्मा, परमात्मा और कर्म–सिद्धान्त की अवधारणा एवं वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी प्रासंगिकता।"

4. Progress Report :- after collection and analysis of the study material .

- After completion of study material collection , I arranged the study material according to the advice of my supervisor .
- Frequently visited my supervisor and discussed about the study material and how to arranged it accordingly.
- After in – depth discussion and study, I started writing my thesis.

रवि कुमार राम

Signature of the Ph.D. Research Scholar

Ravi Kumar Ram

(36)

Purnea University, Purnea

Format for submission of Six-Monthly Progress Report
(To be submitted by the Ph.D. Research Scholar)

1. Name of the Candidate: RAVI KUMAR RAM

2. Name(s) of the Supervisor and Co-Supervisor(s): Dr.ANITA MAHTO

3. Topic of Research: श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आत्मा, परमात्मा और कर्म–सिद्धान्त की अवधारणा एवं वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी प्रासंगिकता।

4. Six-Monthly Progress Report for the period, From:. March 2022 To : September 2022

5. Progress Report to be submitted in detail on separate sheet (Please add separate sheet, if necessary) : separate sheet attached

6. Quantum of Ph.D. work completed:
(Please tick the appropriate box)

(a) 0 ± 10%	☐	(b) 11 ± 20%	☐	(c) 21-30%	☐
(d) 31-50%	☐	(e) 51-75%	☑	(f) 76-100%	☐

रवि कुमार राम
.....
(Signature & Name of the Ph.D. Research Scholar)

7. Remarks of the Supervisor:

The work of research scholar is satisfactory

.....

The scholar has done research work approx 75% successfully.

Name & Signature of Supervisor Anita Mahto

Recommendation of the Departmental Research Committee (DRC)

Recommended.

.....

.....

Signature of the Chairperson
Departmental Research Committee

5.श्रीमद्भगवद्गीता की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता

श्रीमद्भगवद्गीता मानव जाती के कल्याण के कुंजी है। यह मानव के सासांरिक जीवन की सफलता और परमार्थिक लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग बताती है। श्रीमद्भगवद्गीता प्रत्येक व्यक्ति से यह आग्रह करती है कि वह जगत की शाश्वत नैतिक व्यवस्था को सुदृढ़ करे जिससे लोक कल्याण मे कोई व्यवधान ना हो। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता सृष्टि के स्वामित्व के लिए व्यक्ति को कर्म सन्यास से रोकती है। और कर्म में प्रवृत्त होने की अपेक्षा करती है। क्योंकि कर्म संसार चक्र की गति को जारी रखता है। मुक्तात्मा भी इसका अपवाद नही है. क्योंकि वे भी लोक कल्याण के लिए पथ–प्रदर्शक बनते है। जगत एव समाज के कल्याण के लिए कार्य करना उनका स्वभाव बन जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता के समस्त उपदेश को भगवान ने दो पंक्तियों में व्यक्त करते हुए कहा है–

" ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशऽर्जुन तिष्ठति।
भामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।" (18/61)

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।" (18/62)

अर्थात् सभी प्राणियों के हृदय में ईश्वर विद्यमान है। हे अर्जुन। सर्वतोभावेन उसी की शरण में जाओं. उसी को जानने का प्रयास करो। आगे भगवान पुनः अर्जुन को कहते है–

"मन्मना भव मद्भक्तों मद्याजी मां नमस्कुरू।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।" (18/65)

अर्थात् अपने मन को मुझमे सदा लगाये रहो, मेरी ही भक्ति करो, मेरी ही पूजा करो, मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार मैं तुमको निश्चित रूप से अपने समान बना लूँगा। अन्त में भगवान कहते है–

" सर्वधर्मानपरित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।" (18/66)

अर्थात् सभी धार्मिक क्रियाओं, यौगिक साधनों इत्यादि को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ जिससे सभी पापो से मुक्त होकर परमपद की प्राप्ति हो जायेगी। अतः गाँधी जी के अनुसार "भगवान ने इस धर्म शस्त्र का उपदेश ठीक शस्त्र संचालन के समय किया क्योंकि वह भली प्रकार जानते थे कि भौतिक संस्कार में कभी शांति और सुखः होता ही नहीं।

अस्त्रों लोगों की आहुति के उपरांत भी जो विजेता होंगे वह विफल मनोरत और अन्त उदास ही होंगे। इसलिए उन्होंने शाश्वत युद्ध का परिचय गीता के माध्यम से दिया, जिसमें एक बार विजय हो जाने पर सदा रहने वाली विजय अनन्त जीवन और अक्षयधाम है, जो मनुष्य मात्र के लिए सदैव सुलभ है, जो क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ की लड़ाई है, प्रकृति और पुरूष का संघर्ष है। अन्तः करण में अशुभ का अंत और शुभ परमात्मा स्वरूप की प्राप्ति का साधन है।' (गीता की महिमा मोहन दास करमचंद गाँधी, ग्रन्थ विकास सी0–37 राजा पार्क, आदर्श नगर, जयपुर संस्करण–2011 सम्पादकः विजेन्द्र कुमार सुरोलिया)

लोकसंग्रह की अवधारणा

लोकसंग्रह का अर्थ–अभिप्राय :

जो लोग कर्म को ईश्वर पर अर्पित करते हैं वे सन्तजन होते हैं। ईश्वर को अर्पित कर्म ही निष्काम कर्म होता है। उस कर्म का व्यक्तिगत कर्त्ता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह लोक–कल्याण या परमार्थ की दृष्टि से कर्म करते हैं, उसमें इनकी कोई अपनी इच्छा, उद्देश्य या स्वार्थ नहीं होता और इसे ही लोकसंग्रह की दृष्टि से कर्म करना कहा जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता द्वारा प्रतिपादित लोकसंग्रह एक विलक्षण किन्तु प्रभावशाली प्रक्रिया है। शाब्दिक रूप से यदि देखें तो यह कहा जा सकता है कि 'लोक' का अभिप्राय मानव–जाति या जनमानस से है तथा 'संग्रह' का अर्थ मानव को एक–दूसरे के सन्निकट लाना या पूरे मानव समाज को एकता के सूत्र में बांधना है। जनमानस के विश्वास और श्रद्धा का संरक्षण करना तथा विश्व–व्यवस्था को दृढ़ता प्रदान करना भी लोकसंग्रह की परिधि में आता है। तिलक ने लोकसंग्रह में 'लोक' शब्द की व्यापकता पर बल दिया है। अतः इस शब्द में न केवल मनुष्य जाति को ही वरन् सम्पूर्ण जगत् को सन्मार्ग पर लाकर, उसको विनाश से बचाते हुए संग्रह करना अर्थात् भली–भाँति धारण पालन–पोषण या रक्षा करना आदि सभी बातों का समावेश हो जाता है।[1]

लोकसंग्रह के सन्दर्भ में **शंकराचार्य** कहते हैं कि 'लोगों की उलटे मार्ग में जाने वाली प्रवृत्ति को निवारण करना अर्थात् लोकों की कुमार्ग के प्रवृत्ति को रोकना ही लोकसंग्रह है।[2] **रामानुज** ने लोकसंग्रह का अभिप्राय 'लोकरक्षा' से लिया है।[3] उस प्रकार

लोकसंग्रह का तात्पर्य है– लोकमर्यादा सुरक्षित रखने के लिए, लोगों को असत् से विमुख करके सत् के सम्मुख करने के लिए निःस्वार्थपूर्वक कर्म करना। अपने आचरणों एवं वचनों से लोगों को असत् से विमुख करके सत् के सम्मुख कर देना ही लोकसंग्रह है और वही लोकरक्षा है, वही मानव मात्र की सबसे बड़ी सेवा है। लोगों को दिखावे के लिए अपने कर्त्तव्य का पालन करना लोकसंग्रह नहीं है। कोई देखे या न देखे, लोक मर्यादा के अनुसार अपने–अपने (वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, सम्बन्ध, पद आदि के अनुसार) कर्त्तव्य का पालन करने से लोकसंग्रह स्वतः होता है।

तत्त्वज्ञानी अर्थात् मुक्त पुरुष के कर्म बन्धन कारक नहीं होते क्योंकि वह उसे अनासक्त भाव से करता है। उसका व्यक्तिगत जीवन नम्रता, शांति, पवित्रता तथा आनन्द से परिपूर्ण होता है। उसकी चिन्तनशीलता निष्क्रियता में नहीं रहती। कुछ ऐसे लोग जो जीवन धारण के लिए कम से कम कर्म करते हैं (जीवन–यात्रार्थम्) और कुछ लोग 'लोकसंग्रहार्थम्' अर्थात् लोकरक्षा के लिए कर्म करते हैं। [4] दूसरों के लिए मोक्ष का मार्गदर्शक बनते हैं। डॉ. राधाकृष्णन् का कहना है कि जिस प्रकार हत्या या चोरी आदि के समान अपराधों में बनाये गये नियमों का विधान एक सभ्य सुशिक्षित पुरुष के लिए नहीं है, उसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष परम्परागत नैतिक नियमों से बंधा हुआ नहीं है।[5] और ऐसे ही पुरुष जिसके कर्म नैतिकता और अनैतिकता के परे हो गये हो, जिसके हर कर्म की कर्त्तव्य बुद्धि नैतिकता–अनैतिकता पर न होते हुए ईश्वर पर होती है, ऐसे ही पुरुष के कर्म ही लोकसंग्रह के होते हैं।

तिलक का कहना है कि जगत् के अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य श्रेष्ठ है और इसी से मानव जाति के कल्याण का ही प्रधानता से 'लोकसंग्रह' शब्द में समावेश होता है, भूलोक, सत्यलोक, पित्तृलोक और देवलोक आदि अनेकों लोगों को भगवान ने बनाया है ताकि उनका भी भली–भाँति धारण–पोषण हो, और वे अच्छी रीति से चलते रहें, इसीलिए कहा गया है कि सब व्यापक अर्थ 'लोकसंग्रह' शब्द में विवक्षित है; जिससे कि मनुष्य लोक के साथ–साथ सब लोकों का व्यवहार सुस्थिति से चलता रहे। श्रीमद्भगवत्गीता में 'लोकसंग्रह' शब्द का अर्थ विवक्षित है कि अकेले मनुष्य लोक का ही नहीं, अपितु देवलोक

आदि सब लोकों का भी धारण–पोषण हो और वे परस्पर एक–दूसरे का श्रेय सम्पादन करते हुए सारी सृष्टि का पालन पोषण करे। लोकसंग्रह का जो भगवान का अधिकार है वही पुरुष के ज्ञानी हो जाने पर उसे अपने ज्ञान के कारण प्राप्त हुआ करता है। ज्ञानी पुरुष को जो बात प्रमाणिक जँचती है, अन्य लोग भी उसे ही प्रमाण मानकर अनेक अनुकूल व्यवहार किया करते हैं।[6]

राधाकृष्णन् का कहना है कि लोकसंग्रह संसार को बनाए रखना है। लोकसंग्रह का अभिप्राय संसार की एकता या समाज की परस्पर–सम्बद्धता से है। यदि संसार को भौतिक कष्ट और नैतिक अधः पतन की दशा में नहीं गिरना है, यदि सामान्य जीवन को सुचारू और सगौरव होना है, तो सामाजिक कर्म का नियन्त्रण धार्मिक नीति से होना चाहिए। धर्म का उद्देश्य समाज का आध्यात्मीकरण करना है, पृथ्वी पर भातृ–भाव की स्थापना करना। हमें पार्थिव संस्थाओं में आदर्शों को साकार करने की आशा से प्रेरणा मिलनी चाहिए। जब भारतीय जगत् की जीवन समाप्त हो चली, जब इसका झुकाव परलोक की ओर हो चला। श्रान्त वयस् में हम त्याग और सहिष्णुता के सन्देशों को अपना लेते हैं। आशा और ऊर्जा की वयस् में हम संसार में सक्रिय सेवा और सभ्यता की रक्षा करने पर जोर देते हैं। बोइथियस ने जोर देकर कहा है कि "जो अकेला स्वर्ग जाने को तैयार है, वह कभी स्वर्ग में नहीं जाएगा।"[7] महाभारत के एक प्रसंग में युधिष्ठिर से लोकसंग्रह के बारे में भीष्म ने कहा कि, लोकसंग्रह कारक और सूक्ष्म प्रसंगों पर धर्मार्थ का निर्णय कर देने वाला साधु पुरुषों का उत्तम चरित्र स्वयं ब्रह्मदेव ने ही बनाया है।[8]

लोकसंग्रह की व्याख्या :

भारतीय जीवन पद्धति में लोकसंग्रह की अवधारणा अत्यन्त ही प्राचीन है। वैदिक एवं श्रमण परम्परा में भी इसका महत्व रहा है। श्रमण एवं वैदिक परम्पराओं में तीर्थंकर, बुद्ध और ईश्वरावतार का कार्य लोकसंग्रह या लोकमंगल का ही माना गया हैं यद्यपि श्रमण विचारधाराओं में तीर्थंकर एवं बुद्ध का कार्य मात्र धर्म स्थापना ओर लोक–कल्याण है। वे गीता के श्रीकृष्ण के समान धर्म–स्थापना के साथ–साथ न तो साधु–जनों की रक्षा का दावा करते हैं और न दुष्टों के प्रहाण की बात करते हैं। क्योंकि दुष्टों के संहार में श्रमण

परम्परा हिंसा देखती है जबकि गीता में यह कार्य हिंसा–अहिंसा आदि त्रिगुण के अतीत मानी जाती है।

लोकसंग्रह प्रत्येक युग में युगानुसार रूप लेता रहा है। जब समाज धर्म अभिमुख था तो उसका स्वरूप धार्मिक था, समाज अब विज्ञान अभिमुख हुआ है तो इसका स्वरूप भी विज्ञान अभिमुख हो गया है। भारत में सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन में बहुत से ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने लोकसंग्रह की दृष्टि से कार्य किया है। जिनका अपने कर्म का व्यक्तिगत स्वार्थ से कोई तात्पर्य नहीं रहा। वह विश्व–बंधुत्व, लोक–मर्यादा, भाई–चारा तथा ज्ञान–अज्ञान का परिचय कराते हुए कार्य करते रहे हैं। उदाहरणार्थ जनक आदि राजर्षियों ने एक भी विहित कर्म का अनुष्ठान नहीं छोड़ा फिर भी मोक्ष को प्राप्त किया। अतः स्वकर्म की ओर पूरा ध्यान रखना चाहिए।[9] फिर कहा गया है कि, तुम इन्द्रियों का निग्रह करके और स्वार्थ सम्बन्धी सभी इच्छाओं को छोड़कर विहित स्वधर्म का आचरण करो। हे पार्थ! जो निष्काम बुद्धि से स्वधर्म अनुसरण कर पालन करता है, वही वास्तव में इस संसार में ब्रह्मस्थिति में पहुँचता है।[10]

जनक आदि ज्ञानी क्षत्रिय भी निष्काम कर्मयोग के द्वारा ही वर्णाश्रमोचित कर्त्तव्य कर्म का त्याग न करते हुए उसका सुचारू रूप से अनुष्ठान करके ही चित; शुद्धि प्राप्त कर संसिद्धि के लिए (श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति के लिए) प्रयत्नशील थे। उन्होंने प्रारब्ध कर्मवश लोकसंग्रह के लिए जनसाधारण की उन्मार्ग पथ में प्रवृत्ति को रोकने के लिए कर्म किये थे। इस संसार की प्रथा रही है कि बड़े लोग जो कुछ भी करते हैं लोक में उसी का नाम 'धर्म' पड़ जाता है और दूसरे साधारण लोग उसी का अनुसरण करते हैं।[11] इस प्रकार गीता का अभिप्राय है कि ज्ञानी पुरुष का यह दायित्त्व है कि वह अन्य लोगों को भी अपने आचार–व्यवहार द्वारा शिक्षा देकर अपने समान रास्ते पर ले चले। केवल अपने आप ही सिद्धि प्राप्त कर लेना औरों की परवाह नहीं, ऐसा स्वार्थ विचार उसे नहीं करना चाहिए। अपितु सभी लोग अपने–अपने कार्यों में या कर्मों में लगे हुए सिद्धि प्राप्त करें, ऐसी सर्वहित में प्रवृत्ति रखना ही ज्ञानी का मुख्य कर्त्तव्य है।

धर्म के लक्षणों में स्मृतिकारों ने श्रुति–स्मृति के समान सदाचार को भी प्रमाण माना है। श्रुति–स्मृति का भी जैसा अभिप्राय श्रेष्ठ विद्वान पुरुष ने समझा वैसा ही उसके कथनानुसार सर्वसाधारण जनता समझती है। यही बात गीता में (गीता 3/21) कही गई है कि श्रेष्ठ पुरुष जिसको प्रमाण मानता है सब लोग उसी का अनुवर्तन करते हैं। अर्थात् उसी के साथ चलते हैं। इससे सर्वसाधारण के लिए श्रेष्ठ पुरुष का विचार अर्थात् सदाचार ही धर्म निर्णय का मुख्य साधन है।[12] प्रसिद्ध लोक उक्ति भी है– 'महाजनो येत गतः स पन्था। अर्थात् महान पुरुष जिधर से जाते हैं वे रास्ते बन जाते हैं। इसीलिए ज्ञानी पुरुष का भी यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि सर्वसाधारण को सही और सच्चे मार्ग पर चलने की शिक्षा देने के लिए अपने आप अपने धर्म से विमुख न हो स्वधर्माचरण अवश्य ही करता रहे।

ज्ञानी पुरुष भी निःस्वार्थ लोकसंग्रह हेतु कर्म करे इसलिए श्रीकृष्ण अपना उदाहरण देते हैं कि, हे पार्थ! मेरा तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। क्योंकि किसी अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने के लिए ही मनुष्यों का कर्त्तव्य हुआ करता है सो मुझे कुछ भी अप्राप्त नहीं है। जिसे कि प्राप्त करने के लिए कुछ कर्त्तव्य हो। फिर भी मैं कर्म में प्रवृत्त ही रहता हूँ।[13] श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि यदि मैं आलस्य छोड़कर कभी कर्म में प्रवृत्त न होऊँ अर्थात् कर्म छोड़ बैठूँ तो सब मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं इसलिए वे कर्म छोड़ बैठेंगे। और मेरे कर्म न करने पर जगत के सब लोग कर्म छोड देने के कारण नष्ट हो जायेगे।[14] इसलिए ज्ञानी, पुरुष को भी यज्ञार्थ व लोकसंग्रहार्थ कर्म करते ही रहना चाहिए।

जिसने यह जान लिया कि कर्म सब प्रकार से केवल प्रकृति से ही किये जाते हैं और आत्मा अकर्त्ता है अर्थात् कुछ भी नहीं करता, उसे कहना चाहिए कि उसने सच्चे तत्त्व को पहचान लिया है। जब सब भूतों का नानात्व एकता से दिखने लगता है और एकता से ही सब विस्तार दिखाई देता है तब उसे परमात्मभाव की प्राप्ति होती है।[15] ऐसे ही सिद्धपुरुषों द्वारा किया हुआ कर्म लोकसंग्रह के लिए होता है।

परमात्मा स्वयं ही साधुओं के संरक्षण, अधर्म एवं दुष्टों के विनाश तथा धर्म की स्थापना[16] इस तरह के लोकसंग्रह कार्यों हेतु समय–समय पर अवतरित होते हैं। जो मनुष्य आत्मा के विशुद्ध वास्तविक स्वरूप को जानते हैं, स्वभाव से ही उनके मन की प्रवृत्तियाँ लोक–कल्याण की ओर हो जाती है। तिलक ने कहा है कि, सन्तों की विभूतियाँ जगत के कल्याण के लिए ही हुआ करती हैं, वे लोग परोपकार के लिए अपना शरीर नष्ट कर दिया करते हैं। भर्त्यहरि ने भी इसका वर्णन इस प्रकार किया है 'स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः' अर्थात् परार्थ ही जिसका स्वार्थ हो गया हो वही पुरुष साधुओं में श्रेष्ठ हैं।[17]

मनु आदि शास्त्र प्रणेता ज्ञानी जिन्होंने तृष्णा के साथ–साथ परोपकार बुद्धि आदि सभी उदान्त वृत्तियों को नष्ट नहीं कर दिया बल्कि उन्होंने तो लोकसंग्रह कारक चातुर्वर्ण्य प्रवृत्ति शास्त्रीय मर्यादा बना देने का उपयोगी कार्य किया। ब्राह्मण को ज्ञान, क्षत्रिय को रक्षा, वैश्य को खेती, गोरक्षा और व्यापार तथा शूद्र को सेवा में जो गुण–कर्म और स्वभाव के अनुरूप भिन्न–भिन्न शास्त्रों में वर्णित है, वे किसी एक व्यक्ति के हित के लिए नहीं है। मनुस्मृति में कहा गया है कि, "चातुर्वर्ण्य के व्यापारों का विभाग लोकसंग्रह के लिए ही इस प्रकार प्रवृत्त हुआ है कि सारे समाज के बचाव के लिए कुछ पुरुषों को प्रतिदिन युद्ध कला का अभ्यास करना चाहिए, उसी प्रकार कुछ लोगों को खेती, व्यापार तथा ज्ञानार्जन करके समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए" (मनुस्मृति, 1/87)। [18]

सर्वोदय एवं लोकसंग्रह :

'सर्वोदय' शब्द 'सर्व' तथा 'उदय' दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है 'सभी का उदय', सभी का हित और भलाई। सर्वोदय विचार कोई नई विचारधारा नहीं है और लगभग सभी धर्मों में पाया जाता है। महात्मा बुद्ध का यह कथन कि ''अहिंसा परमो धर्मः'' सर्वोदय की अभिपुष्ट करता है। समाज में रहने वाले समस्त व्यक्तियों का समान रूप से उत्थान हो, कल्याण हो, भला हो। यह सिद्धान्त गाँधी के सर्वोदय का उत्कृष्ट उदाहरण है। जैन आचार्य समन्तभद्र ने सर्वोदय को इस तरह प्रस्तुत किया '' सर्वपदा मन्तकरं निरन्तं सर्वोदय तीर्थमिदंवैव'' अर्थात् सभी संकटों का नाश करने वाला यह सर्वोदय तीर्थ है।[19]

भगवद्गीता में 'सर्वभूतहिते रता:' [20] भी सर्वोदय के कल्पना की पुष्टि करता है। सर्वोदय का जन्म या उदय की कल्पना जितनी व्यापक तेजस्वी और सुखान्त है इसकी प्रतीति हमें इससे होती है कि ''ना हमें राज्य की इच्छा है और ना ही स्वर्ग का लालच, मै तो केवल प्राणी मात्र के दुःख, दर्द, कठिनाईयों को दूर करने की कामना करता हूँ।''[21]

गाँधी जी सर्वोदय के विषय में कहते हैं कि 'सबका समान रूप से उदय हो। उनका विश्वास था कि उसी से सबका भला होने वाला है। इतना ही नहीं उससे हम इस दुनियां में स्वर्ग भी ला सकते हैं। विनोबा जी के शब्दों में 'सर्वोदय को सर्वोत्तम धर्म' तथा 'सर्वोदय मिदं तिर्थम्' कहा गया है और यह सही भी है, क्योंकि विश्व के सभी धर्मों का सार गहराई से देखा जाय तो सबका उदय, सबका कल्याण और सबका सुख ही है''।[22] सर्वोदय के अन्दर दुनियाँ के सभी धर्म आ जाते हैं। 'सर्वोदय' को सभी धर्म का समन्वय कहा जा सकता है।

यदि सर्वोदय की विस्तृत व्याख्या की जाय तो इसका आदर्श होगा–वसुधैव कुटुम्बकम्। हम सभी एक ही ईश्वर की सृष्टि है। इसलिए जिस प्रकार परिवार का प्रत्येक व्यक्ति परिवार के समस्त व्यक्तियों के सुख या कल्याण की कामना करता है तद्नुसार बर्ताव करता है, उसी प्रकार हममें से प्रत्येक को सभी के सुख और हित का विचार करके वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। यही नहीं सर्वोदय विचार ब्रह्मविद्या है जिसके द्वारा मनुष्य के मन, बुद्धि और आत्मा का विकास होता है। यदि व्यक्ति अनासक्त होकर सर्वोदय के लिए, लोकसंग्रह के लिए, लोक–कल्याण के लिए कर्म करता रहा तो वह अपने आत्मिक स्वरूप को पहचान जाता है। इसी मार्ग पर चलकर वह 'स्व' एवं 'समाज' दोनों का कल्याण करता है।

सर्वोदय का उद्देश्य सत्य और अहिंसा के आधार पर एक ऐसे आदर्श जीवन की स्थापना करनी है जिसमें जाति–पाँति, धर्म एवं ऊँच–नीच का बिल्कुल भेद–भाव नहीं होगा। शोषण की थोड़ी सी भी गुन्जाईश न होगी। सबके साथ न्याय और समता का व्यवहार होगा जिससे हर व्यक्ति के विकास का पूरा पूरा अवसर मिलेगा। गाँधी जी के शब्दों में, ''हमें सारा समाज की बदलना है और वो भी अहिंसक क्रान्ति के द्वारा। हमें ऐसा समाज शोषणहीन तथा भेदभावहीन अर्थात् एक समाज की स्थापना करना है जो सब के दुखःसुख में समान भागीदारी निभा सके, जो एक भूमि के आधार पर खड़ा होगा।''[23]

इस प्रकार सर्वोदय सम्पूर्ण समाज एवं विश्व का विकास है। सर्वोदय की भावना से सब धर्मों एवं दर्शनों के प्रति आदर की प्रतिष्ठा की गयी है। सर्वधर्म समन्वय की विचारधारा से प्रेरित होकर व्यक्ति विश्वधर्म का पालन कर विश्व कल्याण की ओर अग्रसर हो सकता है।

सन्दर्भ सूची :

1. गी0र0, 3/20 (पृ0 666–667)
2. गी0 शा0 भा0, 3/20
3. गी0 रा0 भा0, 3/21
4. हृदय नारायण मिश्र: नीतिशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त, पृ0 403
5. राधाकृष्णन: भारतीय दर्शन (भाग–2), पृ0 621
6. गी0र0, पृ0 331–332
7. राधाकृष्णन: भगवद्गीता, 3/20
8. महा0 शान्ति0, 258/25
9. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
   लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।। – गी0, 3/20
10. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।
    असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरूषः।। – वही, 3/19
11. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
    स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। – वही, 3/21
12. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी : गीता प्रवचन 'गीता व्याख्यान माला' (भाग–1), पृ0 380–381
13. न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
    नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्माणि।। – गी0, 3/22
14. वही, 3/23–24
15. वही, 13/29–30
16. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
    धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। – वही, 4/8
17. गी0र0, पृ0 334
18. वही, पृ0 334–335
19. जर्नादन पाण्डेयः सर्वोदय का राजनीतिक चिन्तन , पृ0 72
20. गी0, 12/4
21. न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
    कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।
22. विनोबा : व्यक्तिगत और विचार, पृ0 326, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली।
23. हरिजन, 6 जुलाई 1947

PROGRESS REPORT OF Ph.D.Work

1. Name of Research Scholar :- Ravi Kumar Ram
2. Registration No. :- PHDPU20PHI03
3. Title of the Ph.D.thesis :- "श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आत्मा, परमात्मा और कर्म–सिद्धान्त की अवधारणा एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी प्रासंगिकता।"
4. Progress Report :- During the writing of my thesis .

- I frequently visited my supervisor to seek the advice regarding the writing of the thesis .
- After roughly writing the thesis, I discussed it with my supervisor, who checked and suggested many changes.
- After recheck by the supervisor, I corrected the parts of the thesis and again get back to my supervisor.
- After in- depth discussion and several changes, my supervisor gave me go ahead for final writing of the thesis.
- After finally writing the thesis and being checked it by my supervisor, I am ready to submit my Ph.D. thesis to the University.

रवि कुमार राम

Signature of the Ph.D. Research Scholar

Ravi Kumar Ram

(54)

Purnea University, Purnea

Format for submission of Six-Monthly Progress Report
(To be submitted by the Ph.D. Research Scholar)

1. **Name of the Candidate:** RAVI KUMAR RAM

2. Name(s) of the Supervisor and Co-Supervisor(s): Dr.ANITA MAHTO

3. **Topic of Research:** श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आत्मा, परमात्मा और कर्म–सिद्धान्त की अवधारणा एवं वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी प्रासंगिकता।

4. Six-Monthly Progress Report for the period, From:. September 2022 To : March 2023

5. Progress Report to be submitted in detail on separate sheet (Please add separate sheet, if necessary) : separate sheet attached

6. **Quantum of Ph.D. work completed:**
(Please tick the appropriate box)

(a) 0 ± 10%	☐	(b) 11 ± 20%	☐	(c) 21-30%	☐
(d) 31-50%	☐	(e) 51-75%	☐	(f) 76-100%	☑

रवि कुमार राम
(Signature & Name of the Ph.D. Research Scholar)

7. Remarks of the Supervisor: The work of research scholar is satisfactory

The research Scholar has completed his research work approx 100 % successfully.

Name & Signature of Supervisor Anita Mahto

Recommendation of the Departmental Research Committee (DRC)

Recommended

Signature of the Chairperson
Departmental Research Committee

उपसंहार

श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश यद्यपि महाभारतयुगीन सामाजिक परिवेश में सृजित विचार है परन्तु यह आज भी हमारे जीवन की दिग्दर्शिका की भाँति है जिस प्रकार कि वह अर्जुन के लिए थी। इसीलिए गीता को भारत में श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है और विश्व में यह सर्वाधिक लोकप्रिय महानग्रंथ के रूप में जानी जाती है। कालक्रम के प्रवाह में सामाजिक मान्यताएँ एवं वैचारिक अवधारणाएं बदलती रहती हैं परन्तु हम देखते हैं कि परिवर्तन की प्रक्रिया में कुछ ऐसे भी विचारों का अस्तित्त्व विद्यमान है जो प्रत्येक अवस्था में अपनी उपस्थिति एवं सामाजिक महत्त्व को बनाए रखने में अटल हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार आत्मा, परमात्मा और कर्म–सिद्धान्त की अवधारणा एवं वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी प्रासंगिकता में यह बात प्रतिबिम्बित होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश उस समय उपस्थित किया गया था जब समाज में धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, मानवीय, नैतिक एवं राजनैतिक मूल्य ध्वस्त हो रहे थे। आसुरी एवं दैवीय विचारधाराओं का द्वन्द्व प्रबल अवस्था में था। वास्तव में महाभारत का युद्ध, धर्म–अधर्म और कर्म–अकर्म का एक प्रतीकात्मक रूप ही था क्योंकि महाभारत–युद्ध की प्रकृति एवं मनोवृत्ति सम्पूर्ण समाज की व्यवस्था को आपदित करती है। ऐसी अवस्था में इसे सामाजिक एवं समस्त मानव जाति के वैचारिक द्वन्द्व के रूप में ही देखा जाना चाहिए। ऐसी जटिल परिस्थिति एवं उलझनपूर्ण परिवेश में मानवीय अस्तित्त्व की स्वतंत्रता हेतु, उसकी गरिमा की रक्षा एवं उत्थान हेतु श्रीकृष्ण जैसे महामानव का मार्गदर्शन मानव समाज हेतु अनिवार्य था। किन्तु ऐसी स्थिति में अर्जुन पारिवारिक भावनाओं के मोह से ग्रसित होकर युद्ध न करने का फैसला करता है जो उसके ममत्व एवं मोह के वशीभूत जड़ता या मूढता की स्थिति का द्योतक है। वह बाह्य परिणाम के भावी भयानक परिदृश्यों को सोचकर सिहर उठता है, धनुष–बाण हाथ से छूट जाते हैं और कहता है नहीं चाहिए हमें राजसुख जो हमारे परिवार एवं धर्म का नाश कर दे, पूजनीय गुरुओं एवं सम्बन्धियों का नाश कर दे। यह पाप होगा। यह कैसा धर्म है जिसमें सहस्रों लोगों की हत्या होगी। इसी समय श्रीकृष्ण जो उनके सारथी थे, कर्मयोग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तत्त्वज्ञान को सूक्ष्म एवं बोधगम्य रूप में समझाते हैं। इसका मूल सार यही है कि– हे पार्थ! तुम जिस विषय में सोच रहे हो वह अचिन्तनीय है। तुम मात्र अपने कर्त्तव्य के बारे में सोच सकते हो कि

कौन सा कर्म तुम्हारे लिए उचित है और कौन सा नही तथा इस कर्म–अकर्म का निर्धारण परिणाम के स्वरूप के आधार पर नहीं किया जाता, जैसा कि तुम कर रहे हो। अतएव तुम जो कर्म करने जा रहे हो उसका अर्थ यही है कि– "कल्याणकारी आदर्श राज्य की रचना एवं मानवीय मूल्यों की स्थापना हेतु तुम विद्रोह एवं हिंसा आदि परिणामों से दिग्भ्रमित हो।" यदि तुम यह सोचते हो कि तुम्हारे युद्ध न करने के निर्णय से युद्ध नहीं होगा तो यह तुम्हारी अज्ञानता है क्योंकि युद्ध की सभी आवश्यकताएँ एवं परिस्थितियाँ प्रबल हैं और यह परिस्थिति मनुष्य को उसमें उचित कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करती है। इस प्रकार परिस्थितियाँ एवं कर्त्तव्य दोनों ही मिलकर अपने उद्देश्य का निर्धारण करते हैं। परिस्थितियाँ तो युद्ध के अनुकूल हैं। ऐसी अवस्था में संन्यास, वैराग्य, मोह, ममता की बात क्षात्र–धर्म (कर्त्तव्य) के अनुरूप संगत नहीं लगती। तुम्हारा वैराग्य अहिंसक न होकर एक आत्मघाती, पलायनवादी तथा कायरतापूर्ण कदम होगा। परिस्थितियाँ और कर्त्तव्य परिणामों का मूल्यांकन नहीं करते। यह फलाकांक्षा तो मानवीय अज्ञानता का परिणाम है। फलाकांक्षा के फलस्वरूप कर्त्तव्य एवं बुद्धि में मानवीय विकारों का प्रादुर्भाव होता है। ये ही प्रदूषित कर्म मनुष्य के लिए दुःखदायी होते हैं।

अतएव यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने कर्त्तव्य क्षेत्र में परिणाम या फल के दूषित आकांक्षा से क्षेत्रज्ञ या आत्मा के स्वरूप को दूषित न करे क्योंकि ऐसी अवधारणा के परिणामस्वरूप मनुष्य के अन्दर आसक्ति एवं अन्य दुष्प्रवृत्तियों के सृजन के फलस्वरूप वह पथ–विचलित होकर दम्भी, मिथ्या एवं अहंकारी बन जाता है तथा दुरास्था से ग्रसित होकर मिथ्याचरण करने लगता है। वास्तव में यह कहना कि यह मेरा निर्णय है, मैंने उसकी सहायता की, मैंने विजय पायी आदि अहंकारिक प्रवृत्तियाँ व्यक्ति के मिथ्या, अज्ञानता एवं आसक्तिपूर्ण प्रवृत्तियों का परिणाम है जबकि वास्तविक कर्त्ता उस कर्त्तव्य की परिस्थिति एवं अदृश्य शक्ति होती है जो उसे कर्त्तव्य के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता के कर्मयोग की यह समुच्चयी अवस्था मानव जीवन के कुशल निर्वहन एवं कल्याणकारी आदर्श समाज की संरचना में अपने अद्वितीय योगदान की पुष्टि करती है। कर्मयोग की महत्ता आज के समय में वैसे ही प्रासंगिक है जैसा कि महाभारत काल में थी। बस अन्तर इतना है कि महाभारतकालीन अर्जुन की प्रवृत्ति उस समय निवृत्तोन्मुखी हो चुकी थी किन्तु आज की मानवीय प्रवृत्ति वैज्ञानिक एवं पूँजीवादी युग में आसक्तिपूर्ण अर्थात् प्रवृत्तोन्मुखी बन चुकी है। निवृत्तिमार्ग एवं प्रवृत्तिमार्ग– दोनों ही एकांगी दृष्टियाँ हैं जो

प्रत्येक दृष्टि से विनाशकारी है। इससे बचाव हेतु अरस्तु एवं महात्मा बुद्ध ने भी एकांगी अवधारणाओं को नैतिक दृष्टिकोण से सर्वथा त्याज्य माना। प्रवृत्ति–निवृत्ति, शाश्वतवाद–उच्छेदवाद, स्वार्थ–परार्थ, स्वतंत्रता–नियतिवाद इनमें से किसी एक का चरमोत्कर्ष मानवीय और नैतिक मूल्यों का निरसन ही होगा। इसके समाधान हेतु गीता के मध्यम–मार्ग में इनका समन्वय किया गया है। प्रवृत्ति में निवृत्ति, स्वतंत्रता में उत्तरदायित्व, कर्म में फल की अनधिकारिता आदि अवधारणाएँ इसी तथ्य को प्रदर्शित करती हैं।

गीता इस तथ्य को भी स्वीकार करती है कि अधर्मियों, पापियों के वध के लिए लोक–हित एवं धर्म की स्थापना के उद्देश्य से अगर मनुष्य को नैतिक दृष्टि से दिखाई देने वाले अनुचित कर्त्तव्य भी करना पड़े तो वे नैतिक ही है समत्व बुद्धि के द्वारा किया जाने वाला कार्य लोकसंग्रहकारी एवं सदैव आध्यात्मिक मूल्यों के संवर्धन एवं स्थापना में सहायक होता है।

आज का मानव वैज्ञानिक विकास के परिवेश में अपने साम्राज्यवाद एवं विलासी प्रवृत्तियों को दिनों–रात बढ़ाता ही चला जा रहा है। उसके भोग एवं लिप्सा युक्त कामना की व्यग्रता का अन्त ही नहीं दिखाई पड़ता है अर्थात् वह कितना ही क्यों न समृद्ध हो जाय आत्म–नियंत्रण की स्थिति में नहीं है तो यह भी एक मानसिक क्लेश, स्वार्थ आदि इन्द्रियजनित सुख एक प्रकार की अस्तित्त्वपरक परतंत्रता ही है। इसके परिणामस्वरूप अतिवादी प्रवृत्तियाँ व्यक्तिगत स्तर से लेकर परिवार, वर्ग, जाति, समुदाय, राष्ट्र एवं विश्व स्तर पर युद्ध की दशाएँ बना रही हैं जो वास्तव में मानव जाति के लिए अभिशाप है। कोई भी युद्ध हो, चाहे वह महाभारत का युद्ध हो अथवा राम–रावण का युद्ध हो या समकालिक विश्व युद्ध, ये सभी ही मानवीय कर्त्तव्य के लिए आदर्श नहीं हैं किन्तु यह मानवीय अज्ञानता के फलस्वरूप बनाई गयी परिस्थितियों की विवशता है जिससे युद्ध अवश्यम्भावी हो जाता है। व्यक्ति यह जानते हुए कि यह दुष्प्रवृत्तिरूप फलाकांक्षा उसे एक भयावह स्थिति प्रदान करेगी, इसके बावजूद आज भी वह आसक्तिपूर्ण प्रवृत्तियों का दास बना हुआ है। अतएव आज आवश्यकता है पुनः उस 'निष्काम कर्मयोग' की अवधारणा को समाज में पुनर्स्थापित करने की जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपने विश्वसनीय एवं पूजनीय आध्यात्मिक पुस्तक गीता की अवधारणाओं को अपने जीवन में आत्मसात् करके प्रवृत्ति में निवृत्ति के महत्त्व को साकार करे, परिभाषित करे, जिससे जीवन के सर्वांगीण आयाम एवं विविधतायुक्त

परिस्थितियों के बीच अपने कर्त्तव्य को अपना धर्म मानकर एक सुन्दर और स्वस्थ जीवन का निर्माण कर सके।

गीता विकास को अवरूद्ध नहीं करना चाहती, विकास हो परन्तु इस तरह से आसक्तियुक्त संचयीकरण की मानसिकता से नहीं कि जब वासना–तुष्टि हेतु भारतीय धन को स्विस बैंकों के खाते में जमा किया जाता हो, बड़े–बड़े घोटालों एवं भ्रष्टाचारों द्वारा जनता का प्रत्यक्ष शोषण किया जाता हो। क्या यही विकास है यही भूख मिटाने का उपाय है? इस मनोवृत्ति के कारण एक तरफ जहाँ कुछ लोग भोग विलासिता का जीवन जी रहे हैं तो दूसरी तरफ बाहुल्य आबादी अत्यन्त कठिन एवं दुर्लभ जीवन व्यतीत करने को विवश है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपनी विवशता एवं अभाव मात्र के जीवन शैली से उबरने के लिए अनैतिक, आपराधिक, चोरी, हिंसा आदि का सहारा लेने लगता है। अतएव आज उत्पीड़न, अत्याचार एवं अन्य अमानवीय कृत्यों के विरूद्ध गीता के उपदेशों की आवश्यकता है जो लोक–संग्रह की भावना को लोगों के हृदय में जागृत कर सके।

आज समस्त मानव तृतीय महायुद्ध की संभावना की विभीषिका से निरन्तर संत्रस्त है। भ्रातृभाव के अभाव के कारण एक का दूसरे पर विश्वास प्रायः उठ सा गया है। कब युद्ध आरम्भ हो जाय पता नहीं। इसके बचाव के लिए आज के मानव ने ऐसे ऐसे विध्वंसक अस्त्र–शस्त्रों का निर्माण किया है जिससे क्षण मात्र में ही सम्पूर्ण मानव जाति के साथ ही साथ मानव सभ्यता का भी विध्वंस सम्भव है। द्वितीय महायुद्ध से हुई क्षति की पूर्ति आज तक नहीं हो सकी। आज का युद्ध सैकड़ों–हजारों वर्ष पूर्व के युद्ध से सर्वथा भिन्न है। अतएव हमारे समक्ष आज समस्या है, मानव संस्कृति एवं सभ्यता के रक्षा की। गीता में अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त होने का तो उपदेश अवश्य दिया गया है, पर इन उद्देश्यों पर गम्भीर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता का अमर उपदेश शांति का है क्योंकि उस युद्ध में, हिंसा में धर्म की स्थापना तथा अहिंसा की स्थापना का उद्देश्य है।

किसी भी शास्त्र के सिद्धान्त के बाह्य स्वरूप अथवा उसके बाह्य फल के आश्रय से उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। कोई कर्म कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य, यह उन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही निर्णय किया जा सकता है जिसमें मनुष्य को कोई विशेष कर्म करने के लिए विवश नहीं होना पड़ता है। अतः जिस युद्ध में प्रवृत्त होने के लिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को प्रेरित किया, उसके औचित्य–अनौचित्य का निर्णय तो उस

पृष्ठभूमि के आलोक में ही किया जा सकता है जिसका महाभारत में वर्णन किया गया है, जिसके कारण युद्ध अनिवार्य हो गया था। अतः प्रश्न है कर्त्ता की बुद्धि का। गीता के आचार पक्ष का मूल तत्त्व शुद्धबुद्धि है। शुद्धबुद्धि ही कर्मों की नैतिकता का निर्णायक मानदण्ड है। यों ही निष्काम–कर्मयोग अव्यवहारिक सा लगता है क्योंकि अपने कर्मों में लाभ या हानि के प्रति उदासीन रहना आसान नहीं है। ममत्व के पाश से निकलना सिंह के मुंह से ही निकलना है। शुद्धबुद्धि से ही निष्काम–कर्मयोग सम्भव है और तभी ममत्व तथा स्वार्थ से छूटकर प्रेम का प्रसार किया जा सकता है।

प्रसिद्ध जर्मन नीतिशास्त्री इमैनुएल काण्ट कर्मों को अपने आप में शुभ या अशुभ मानते हैं तथा निरपेक्ष आदेश पर बल देते हैं। परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता कर्मों को अपने आप में शुभ या अशुभ नहीं मानती। यों तो बहुत से ऐसे कर्म व्यापार हैं, जैसे–दया, दान, क्षमा, उपकार, अहिंसा, अस्तेय इत्यादि जिन्हें बाह्यतः आचारणीय या शुभ माना जाता है तथा उनके विपरीत सभी कर्मों को अशुभ माना जाता है। परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता की नीति–मीमांसा की यह विशेषता है कि यह कर्त्ता की बुद्धि को ही विशेष महत्त्व देती है, क्योंकि जहाँ मानव सर्वोपरि है तथा मानव आचार का आदर्श अपरिवर्तनशील है, उन आदर्शों के दुरूपयोग की सम्भावना के निवारण के लिए आत्म–संयम, इन्द्रिय–निग्रह आदि को शुद्धबुद्धि के निमित्त अनिवार्य माना गया है तथा नैतिक आदर्श की इस चरम पराकाष्ठा को ही जीवन का सर्वोत्कृष्ट आदर्श माना गया है, वहाँ परिस्थितियों और कर्मों के शुभाशुभ बाह्य स्वरूप का कोई महत्त्व नहीं हो सकता। अतः प्रश्न यह नहीं है कि युद्ध जैसा क्रूर कर्म त्याज्य है या व्यवहार्य, हेय है या उपादेय, बल्कि प्रश्न है कर्त्ता की बुद्धि की शुद्धि का। इस प्रकार के शुद्धबुद्धि वाले व्यक्ति को जिसमें आत्मसंयम, इन्द्रियनिग्रह, निःस्वार्थभाव आदि का समावेश हो, हम आत्मवान पुरुष भी कह सकते हैं क्योंकि उसे कर्त्तव्य का ज्ञान रहता है। वर्तमान विधि–कानून व्यवस्था में भी साधारणतया कर्त्ता की बुद्धि की शुद्धता या व्यक्ति के इन्टेन्सन (काम करने के अभिप्राय या इरादा) को ही किसी कर्म के नैतिक या बौद्धिक मूल्यांकन अथवा निर्णय के लिए महत्त्व दिया जाता है। अतः गीता का नैतिक उपदेश वर्तमान विधि एवं न्याय–व्यवस्था में भी प्रासंगिक दिखाई देता है।